नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो ह्रदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन ह्रदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

राष्ट्र धर्म
सत्यदेव विद्यालङ्कार

राष्ट्र-धर्म

(सामाजिक और धार्मिक-क्रान्तिकी आवश्यकता पर एक दृष्टि)

लेखक

सत्यदेव विद्यालंकार

सितम्बर० १६३२

मूल्य ||) --आठ आना ।

प्रकाशक :—
सत्यदेव विद्यालंकार
राष्ट्र-धर्म-ग्रन्थ-माला-कार्यालय
३ सुखलाल जौहरी लेन,
कलकत्ता ।

* आवश्यक सूचना *

इस पुस्तक के सम्बन्ध में सब पत्र व्यवहार भविष्य में कलकत्ता के पते पर न करके निम्नलिखित पते पर ही कीजियेगा :—

श्री सत्यदेव विद्यालंकार
अलंकार बुक डिपो,
(हिन्दुस्थान हौजरी वर्क्स)
कटरा बड़ियां, देहली ।

यह छोटी-सी भेंट

भोली-भाली गरीब जनताको धर्मके जालमें फंसा
कर ऊंच-नीचका भेद-भाव पैदा करने
वाले धर्मजीवी लोगोंकी सेवामें

सप्रेम समर्पित है।

यदि उन्होंने सर्वसाधारणको धर्मान्ध न
बनाया होता, तो इसके लिखनेके लिये
संभवतः प्रेरणा ही न हुई होती।

—: और :—

दूसरे इस भेंटके अधिकारी वे हैं, जो राजनीतिक-
क्षेत्रमें कार्य करते हुये भी धर्मान्ध बने हुये
हैं। क्योंकि उनका धर्मान्धता-पूर्ण-व्यवहार
लेखकके राष्ट्र-धर्म-सम्बन्धी इन विचारों
को पुष्ट करनेमें विशेष रूपमें
सहायक हुआ है।

"राष्ट्रदेवो भव"

—भगवान् तिलक

विषय-प्रवेश

भारतमें धर्मजीवी लोगोंकी एक श्रेणी है, जिसने अपने स्वार्थवश जनताको ऐसा धर्मान्ध, विवेक-रहित और मति-मंद बना रखा है कि इस श्रेणीके लोगोंके चंगुलमें सर्वसाधारणका फंसा रहना भी वंश-परम्परागत मर्यादाका एक आवश्यक और प्रधान अंग बन गया है। प्राचीन धारणा और पुरानी लकीरकी फकीरीका कोई कितना भी विरोध क्यों न करे, पर उसको भी धर्मजीवी लोगोंकी आजीविकाके लिये लगाया गया टैक्स सरकारी टैक्सके समान चुपके-से अदा करना ही पड़ता है। घरमें कोई 'कारज' हो ब्राह्मणोंको सबसे पहिले भोजन और दक्षिणाके रूपमें टैक्स अदा करना जरूरी है। द्वारपर कोई भिखारी अपनेको ब्राह्मण कहकर आ खड़ा हो अथवा साधुका वेश बनाकर उपस्थित हो जाय तो उसको जमींदारके सिपाहीकी तरह बिना कुछ दिये टाला नहीं जा सकता। मानो घरवाले उसके कर्जदार हैं और अपना ब्याज वसूल किये बिना वह उनका पीछा नहीं छोड़ सकता। किसी शहर या गांवमें इनकी कोई मंडली जा पहुंचे तो वहांके लोगोंपर प्यूनिटिव-पुलिस ही बैठ जाती है, जिसका धार्मिक-टैक्स वहांके लोगोंको अदा करना ही पड़ता है। मठोंके मालिक और साधु, मन्दिरोंके पुजारी

और महन्त, तीर्थोंके पण्डे और उनके एजेन्ट, विभिन्न सम्प्रदायों-के आचार्य और गुरु तथा घर घर घूमने वाले पुरोहित और पण्डित—सब इसी श्रेणीके लोग हैं। इनकी करतूतोंको लज्जास्पद, भयानक और क्रूरतापूर्ण कहानी हिन्दू-समाजके प्रतिदिनके अनुभवका विषय है। यदि भिखमंगोंकी तरह ये अपने जीवनका गुज़ारा करते रहें, तब भी कदाचित् किसीको कुछ आपत्ति न हो। पर, जब ये जनताको स्वार्थवश धर्मान्ध बनाकर उसको ठगते हैं, ठगविद्याको सफल बनानेके लिये नाना प्रकारके जाल बिछाते हैं, स्वार्थान्ध होकर देश-समाज तथा राष्ट्रके हितकी अवहेलना ही नहीं करते किन्तु जान बूझकर उसकी प्रगति एवं अभ्युदयके मार्गमें रोड़े अटकाते हैं, तब तो इनके द्वारा फैलाई हुई मोहमायाके जालको छिन्न-भिन्न करनेके लिये धर्मको मिटानेके सिवा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी। धर्म न रहेगा तो इनके छल, कपट, प्रपंच और मोह-मायाके ऊंचे महलकी छत और दिवारोंको पृथिवी पर लोटनेमें अधिक समय नहीं लगेगा। इस छोटी-सी पुस्तिकामें इसी आवश्यक और महान् किन्तु कठोरतम कार्यकी ओर संकेत किया गया है। वर्तमान-शिक्षा प्राप्त किये हुये लोग भी समय आता है तो दुम दबाकर रह जाते हैं। उनकी भी इन धर्मजीवी लोगोंके सामने दाल नहीं गलती। शादी ब्याहके समयमें शास्त्राचार और लोकाचारके नामसे प्रचलित अनाचार और मिथ्याचारके प्रतिकूल आचरण करनेका किसीको लेश साहस

करते हैं ? कोई बूढ़े मां-बापकी आड़ लेता है, कोई स्त्रियोंके नामपर अपनी कमजोरीको छिपाता है, कोई ऊंचे घरकी पुरानी मर्यादाका बहाना करता है, कोई समाज-जाति एवं बिरादरीमें नाक कट जानेसे डरता है। शादी आदिके अलावा मृत्यु आदिकी गमीके अवसर पर भी ये धर्मजीवी कभी चूकते नहीं। उस समय ये निर्दयताके अवतार बन जाते हैं। इस धर्मान्धताके पापका जो परिमाण और परिणाम देहातोंमें देखनेमें आता है, उससे धर्म द्वारा होनेवाली हानिका सहजमें पता लगाया जासकता है। स्त्रियोंके लिये तो धर्म मानो एक अभिशाप है। इस सब स्थिति पर कुछ उदार दृष्टिसे विचार करने पर इस पुस्तिकाके दृष्टिकोण-को समझना कठिक नहीं रहेगा।

इससे भी अधिक दुःखका विषय यह है कि राजनीतिक क्षेत्रमें कार्य करने वाले युवकों तक ने अभी धर्मान्धताके गढ़ेमेंसे अपना उद्धार नहीं किया है। वे भी जाने या अन-जाने इस मोहमायाके चक्करमें फँसे हुये हैं। १९२०-२१ में महाराष्ट्र-प्रान्तमें राजनीतिक परिषदोंमें जाने वाले महानुभावोंके भोजनके लिये दो पंक्तियां लगाई जाती थीं। पहिलीमें ब्राह्मण बैठते थे और दूसरीमें ब्राह्मणेतर। कुछ समय बाद बड़ी कठिनाईसे इस भेदभावको दूर किया जा सका। पर, भीतर ही भीतर जो मनोमालिन्य घर कर चुका था, उसने पीछे ब्राह्मणेतर-अन्दोलनको जन्म दिया। राजनीतिक-क्षेत्रमें काम करने वाले राष्ट्रीय वृत्तिके ब्राह्मणेतर ही प्रायः इस आन्दोलनके अगुआ हुये। यह भी मानना होगा कि

राष्ट्रीय-मुसलमानोंको साम्प्रदायिक बनानेमें उन हिन्दू धर्माभिमानी राष्ट्रीय-हिन्दुओंका भी बहुत बड़ा भाग है, जो कि कांग्रेससे कंधा भिड़ा कर काम करने वाले मुसलमानोंके प्रति राजनीतिक क्षेत्रमें भी घृणा, उपेक्षा या तिरस्कारका व्यवहार करते रहे हैं। मुसलमानोंसे तो क्या हिन्दु हिन्दुओं ही से अभी परस्परमें इतना भेदभाव रखते हैं कि न मालूम इस देशमें राजनीतिक एकता किंवा राष्ट्र-धर्मकी स्थापना कब होगी ? यहां इसी सम्बन्धकी एक घटनाका उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

१९२९में बंगाल-प्रान्तिक-राजनीतिक-परिषद्का वार्षिक अधिवेशन रंगपुरमें था। बड़ाबाजार (कलकत्ता) से मित्रोंकी एक-अच्छी टोली परिषद्में सम्मिलित होनेके लिये गई थी। इस टोलीमें नर-केसरी बाबा गुरुदत्तसिंहजी और बड़ाबाजार कांग्रेस कमेटीके प्रायः सभी तरहके कार्यकर्ता सम्मिलित थे। वहां सबके ठहरने और खाने-पीनेका सब प्रबन्ध एक मारवाड़ी-सज्जनने अपने यहां इतना सुन्दर किया था कि प्रायः बरातियोंके लिये ही वैसा प्रबन्ध किया जाता है। भोजनका समय हुआ और मित्रोंने पूछा कि भोजन बनाने वाला रसोइया कौन ब्राह्मण है ? कुछ एकने कहा कि वे सिवा पुष्करणा ब्राह्मणके किसी दूसरेके हाथका भोजन नहीं कर सकते। एक तो उनमें स्वयंपाकी ही थे। एक ओर सब भोजन तय्यार और दूसरी ओर उसको ग्रहण करनेमें इतनी बड़ी आपत्ति। बड़ी टेढ़ी समस्या उठ खड़ी हुई। पक्की रसोई और मिष्ठान्न होता तो चल भी जाता। कच्ची रसोई कैसे चले ?

लगभग घण्टा डेढ़-घण्टा इस समस्या पर विचार हुआ। बाबा-जीने राष्ट्रके नामसे अपील की और अपना उदाहरण उपस्थित किया कि मैं भी ५० वर्षकी आयु तक अपने हाथका ही बनाया हुआ खाना खाता रहा हूं। पर, राष्ट्रीय क्षेत्रमें काम करने वालोंके लिये यह निभाना कठिन है और उनको यह शोभा भी नहीं देता। अस्तु, विवादके बाद यह निर्णय हुआ कि यदि बाबाजी, श्रीमती सुभद्रा देवी और दूसरे कुछ गैर-ब्राह्मण पहली पंक्तिमें भोजन नहीं करें तो ब्राह्मण-धर्माभिमानी-भाई भोजन कर सकते हैं। दूसरेके घरमें उसके कष्टका विचार करते हुये ऐसा समझौता मान लिया गया। कुछ लोगोंने रसोईके बाहिर बरामदेमें बैठकर भोजन किया और यह जटिल समस्या किसी प्रकार हल हुई।

दूसरे दिन परिषद्में वर्तमान जातिगत भेदभावको दूर करनेके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव पेश हुआ। भोजन करनेमें आपत्ति करने वाले एक भाई उस प्रस्ताव पर बड़े ही क्रुद्ध हुये। उन्होंने उसके विरोधमें भाषण भी किया और भाषणमें वे यह भी कह गये कि "कांग्रेसके इस मंच पर और कांग्रेसके इस झण्डेके नीचे जाति और धर्मका कोई भेदभाव नहीं माना जा सकता। यहां सब एक हैं।" परिषद्से बाहिर होते ही उनसे पूछा गया कि आप दिनके चौबीस घण्टोंके लिये ही कांग्रेसवादी हैं कि केवल व्याख्यान देनेके समयके लिये? वे इसका क्या उत्तर देते? आचार और विचारमें विद्यमान इतने स्पष्ट अन्तरको केवल बातोंसे कैसे मिटाया जा सकता था?

रंगपुरकी यह घटना अब भी कलकी ही ज्ञात पड़ती है, क्योंकि उसके बाद भी अपने राजनीतिक मित्रोंके पारस्परिक व्य-वहारमें ऐसा ही भेदभाव देखनेमें प्रायः आता रहता है।

१६३० के सत्याग्रह-आन्दोलनसे पहिले भी दो बार जेलमें रहनेका अवसर मिला था। १६२३ में तो नागपुर सेण्ट्रल जेल और खण्डवा-जिला-जेलमें प्रायः सभी प्रान्तोंके लोगोंके साथ रहनेका सुयोग प्राप्त हुआ था। उस समय जाति-गत किंवा धर्म-गत भेद-भावकी छाया तक जेलोंमें कहीं देखनेमें नहीं आई थी। पर, १६३०में दमदम-स्पेशल-जेलमें खान-पानके धर्मका और उस द्वारा पैदा होनेवाले भेद-भावका नंगा रूप देखकर तो दिल ही एक बार सहम गया। वहां नौ पूर्बिये ग्यारह चूल्हे वाली कहावत पूर्णरूपमें चरितार्थ हुई दिखाई दी। इसी प्रकार १६३२ में भी ऐसे ही भेदभावका नंगा रूप देखनेको मिला। १६३०से पहिले जेलोंमें यह भेदभाव इसी लिये देखनेमें नहीं आता था कि उस समय कैदियोंके लिये श्रेणी-विभागकी व्यवस्था नहीं थी और सबके साथ एक समान ही व्यवहार किया जाता था। यह बुराई भी संभवतः श्रेणी-विभागके साथ ही पैदा हुई है।

इस भेद-भावके कारण जेलोंमें धार्मिक विषयों पर चर्चा खूब होती है। कुछ भाई तो इस चर्चाको इतना असह्य समझते हैं कि इस चर्चाके ही कारण फिरसे जेल आनेको उनका दिल ऊब गया है। यद्यपि देश-सेवाके लिये जेलके मार्गका अवलम्बन करना अनिवार्य है तो भी वे इस मार्गको छोड़ सकते हैं, किन्तु

जिस रुढ़ि, परम्परा और मर्यादाको उन्होंने धर्म मान लिया है उसका वे त्याग नहीं कर सकते। धर्मके लिये देशको छोड़ा जा सकता है किन्तु देशके लिये धर्मकी एक मात्रा भी कम नहीं की जा सकती।

ऐसी कितनी ही प्रत्यक्ष घटनाओंसे प्रेरित होकर 'राष्ट्र-धर्म' के सम्बन्धमें कुछ लिखनेका विचार कई बार पैदा हुआ। इस बार जनवरीके शुरूमें ही एमर्जेंसी आर्डिनेंसमें अलीपुर सेण्ट्रल जेलमें लाये जाने पर इस विचारको पूरा करनेका निश्चय किया। मित्रोंकी पारस्परिक चर्चासे वह विचार और भी अधिक दृढ हो गया। इस निबन्धका खाका भी खींच लिया गया था और सोचा गया था कि इस बारके जेल-जीवनमें पहिला काम यह ही किया जायगा। पर, खाका खींचनेके बाद ही कुमारी ग्रेस एलिसनकी लिखी हुई 'टर्की टुडे' नामकी पुस्तक हाथ लगी। इस विषयकी पूर्ण-समर्थक वह ऐसी पुस्तक थी कि उसके अनुवाद करनेके लोभका संवरण करना कठिन हो गया। उसको पूरा किया। उसके बाद दूसरे कामोंमें समय निकल गया। दो मासका आर्डिनैंस की और छः मासकी राजद्रोहकी सजाकी अवधि पूरी होनेको सिरपर आ गई, पर इसके लिखनेका संकल्प यों ही रह जाता जान पड़ा। पर, विचार इतना दृढ़ हो चुका था कि उसको पूरा किया ही गया और जेल-जीवनकी इस अवधिके पूरा होनेसे एक ही दिन पहिले आधी रातको उसको पूरा करनेके बाद भूमिकाकी ये पंक्तियां लिखी गई हैं।

पुस्तिकाको जान-बूझ कर कटु नहीं बनाया गया है और धर्मोंकी आलोचना बड़ी संयत भाषामें बहुत सावधानीके साथ की गई है। किसी धर्मविशेष पर आक्षेप करना इस पुस्तिकाका उद्देश्य कदापि नहीं। इससे धर्मोंके नामसे प्रचलित अनेकों बेहुदगियों और बहमोंका समझ-बूझ कर ही वर्णन नहीं किया गया हैं। उनकी ओर संकेत कर देना ही काफी समझा गया हैं। इस पर भी यदि पुस्तिकाकी भाषा अथवा किसी विचार विशेषसे किसीके हृदय पर कुछ चोट पहुंचे तो उसके लिये विनीत-भावसे हम क्षमा प्रार्थी हैं। जिस राष्ट्रीय भावनासे प्रेरित होकर इसको लिखा गया है, यदि उसी भावनासे प्रेरित होकर इसको पढ़ा गया तो आशा नहीं कि किसीके हृदय पर कुछ भी चोट लगे। जो लोग प्रकाशसे भय खाने वाले चोरके समान इससे भय करेंगे, उन के भयको दूर करना संभव नहीं। यह हम स्वीकार करते हैं कि भिन्न भिन्न धर्मोंके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान 'नहीं' के ही समान है। पर, जिस दृष्टिकोण किंवा विचार-सरणिको इसमें स्पष्ट करनेका यत्न किया गया हैं, उसके लिये धर्मोंके तात्विक किंवा शास्त्रीय ज्ञानकी इतनी आवश्यकता भी नहीं थी, जितनी कि बाह्य अनुष्ठानके ज्ञानकी थी। क्योंकि इस पुस्तिकाके विचारका विषय धर्मोंके तात्विक किंवा शास्त्रीय रूपको नहीं बनाया गया। उनके बाह्यरूप और उन पर आश्रित अनुष्ठान पर ही विचार किया गया है। सर्वसाधारणमें धर्मोंके शास्त्रीय किंवा तात्विक रूपको जाननेवाले कितने हैं? वे तो धर्मकी विडम्बना, आडम्बर और पाखण्डके

जंजाल ही में उलझे हुये हैं। राष्ट्रीय दृष्टिसे उसकी निरर्थकता दिखाना और उसके सर्वनाशकी ओर सर्वसाधारणका ध्यान आकर्षित करना ही इसके लिखनेका एकमात्र उद्देश्य है।

सर्वसाधारणकी अपेक्षा राजनीतिक क्षेत्रमें काम करने वाले सहयोगी बन्धुओंके लिये आशा और बहुत कुछ भरोसा भी हैं कि यह पुस्तिका कुछ अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। उनको धर्मके जंजालसे अपनेको बचानेकी चेष्टा यत्नपूर्वक करनी चाहिये। उनको यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि जीवनके लिये धर्म है, धर्मके लिये जीवन नहीं और यह जीवन देशके लिये है, देश जीवनके लिये नहीं। ऐसा समझ लेने पर राजनीतिक कार्य करने वालोंमें अन्यथा-बुद्धि पैदा नहीं होगी। अपने कर्तव्य-कर्मके सम्बन्धमें उनको कुछ भी सन्देह नहीं रहेगा। ऊंच-नीचके भेदभावका कीड़ा उनके दिमागमें फिर कभी खलल पैदा नहीं करेगा। जात पातके झूठे अभिमानकी मोह-मायासे वे सदा ही बचे रहेंगे। अपने समय, साधन और शक्तिका वे कुछ अधिक सदुपयोग कर सकेंगे। उदाहरणके लिये इतना लिखना बस होगा कि जिनको सीमित दायरेमें ही अपनी लड़कीके लिये लड़का अथवा लड़केके लिये लड़की ढूंढ़नी पड़ती हैं उनको कितनी हैरानी, परेशानी और मुसीबत उठानी पड़ती है। उनका कितना समय, धन और साधन इस काममें बिगड़ जाते हैं? ओसर-मोसर, श्राद्ध, ब्रह्म-भोज, जातिके पंक्ति-भोजमें कितने ही घर बिलकुल नष्ट हो गये हैं? पूजा-पाठ एवं धर्मके अनुष्ठानके

नामपर कितने समय और धनकी बरबादी की जाती है? राष्ट्र-धर्मका अनुयायी अपनेको इन सब झंझटोंसे बचा कर अपने सब समय और धनको राष्ट्रसेवाके अर्पण कर सकता है। वास्तवमें देशको ऐसे राजनीतिक कार्यकर्ताओंकी बड़ी भारी आवश्यकता है जिनकी दृष्टिको धर्मने संकुचित, वृत्तिको अनुदार, स्वभावको असहिष्णु, दिमागको सनकी एवं आचार-विचारको पक्षपात-पूर्ण नहीं बना दिया है, जो न केवल जात-पात किन्तु धर्म-गत भेद-भाव तथा ऊंच-नीचकी कुत्सित भावनासे भी ऊपर उठे हुये हैं, जो धर्मकी विडम्बना, आडम्बर एवं पाखण्डसे सब प्रकार बचे हुये हैं और जिन्होंने धर्मके समान राजनीतिको भी दिखावा न बना कर बिना किसी शर्त तथा बहानेके अपने समस्त जीवन को ही पूर्णरूपमें राष्ट्र-सेवाके अर्पित कर दिया है। यदि इस पुस्तिकाने राजनीतिक-क्षेत्रमें काम करने वाले कार्यकर्ताओंमें रूढ़ि, परम्परा एवं रिवाजके नामसे प्रचलित लोकाचार तथा शास्त्राचारके विरोधमें खड़े होकर धर्मके विरुद्ध विद्रोह करनेकी नैतिक-शक्ति कुछ थोड़ी सी भी पैदा कर दी, तो लेखक अपने प्रयत्नको सफल हुआ समझेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तिकाकी बहुत कड़ी आलोचना की जायगी। लेखक पर भी कुछ कटाक्ष किये जा सकते हैं। यदि ऐसा हुआ तो वह अपने यत्नको सफल हुआ समझेगा। उस सबको वह अपने परिश्रमका पुरस्कार मान कर परीक्षामें उत्तीर्ण हुये विद्यार्थीके समान सहर्ष स्वीकार करेगा। ऐसा पुरस्कार भी सब किसीके भाग्योंमें नहीं बदा है।

जिन सहृदय मित्रों एवं बन्धुओंने लेखकको इसके पूरा करनेके लिये उत्साह प्रदान किया है और इसकी हस्तलिखित प्रतिको पढ़कर कुछ दाद दी है उन सबका लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है। उनकी ओरसे बढ़ावा मिले बिना कदाचित् पुस्तिकाको यह रूप प्राप्त न हुआ होता। विश्वमित्र-सम्पादक आदरणीय श्री माता-सेवकजी पाठकने इसकी मूलप्रतिको पढ़नेकी जो सहज कृपा की है, उसको भुलाया नहीं जा सकता। उनका भी लेखक अनुगृहीत है।

लेखक अपनेको राष्ट्रका एक तुच्छ सेवक मानता है। इसीसे वह राष्ट्र-धर्मका हामी और उसके लिये आवश्यक धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्तिका कट्टर उपासक है। अपने इस विश्वासको अधिक दृढ़ करनेकी दृष्टिसे भी उसने इस पुस्तिकाको लिखनेका साहस किया है। राष्ट्र-धर्मके सम्बन्धमें भी कुछ आशङ्कायें की जा सकती हैं। उन आशङ्काओंपर एवं राष्ट्र-धर्मके विशद्-रूप पर इस लिये विचार नहीं किया गया कि उससे इस पुस्तिकाका रूप कुछ ऐसा हो जाता कि वर्तमान आर्डिनैंसके युगमें प्रेसके मालिक उसको मुद्रित करनेके लिये तय्यार नहीं होते। अब भी मूल-प्रतिमें इस दृष्टिसे काफी कांट-छांट की गई है, उसकी पूर्ति संभव हुआ तो फिर कभी की जा सकेगी।

सिग्रीगेशन-यार्ड
अलीपुर-सेण्ट्रल जेल,
कलकत्ता १-८-३२

—सत्यदेव विद्यालंकार

???

धर्म क्या है ?

—"गरीबको बड़ा सन्तोष मानना चाहिये कि वह पाप-पुण्यके इस झंझटसे इसीलिये अलिप्त है कि वह धर्मजीवी लोगोंकी नियत दक्षिणा चुकानेकी शक्तिसे वंचित है।......धर्मने मनुष्यकी दृष्टिको संकुचित, वृत्तिको अनुदार, स्वभावको असहिष्णु, दिमागको सनकी और आचार-विचारको पतित बनाकर मनुष्य-समाजके जीवनमें हठ, दुराग्रह, विरोध, ईर्ष्या और द्वेषकी भावनाको मनुष्यके देहमें रुधिरकी तरह पैदा कर दिया है।"

—"Then as now the public profession and confession of orthodoxy was chiefly met with among people who were dull and cruel and who considered themselves very important . Abiliiy, honesty, reliability, good nature, moral conduct were more ofren met with among unbelievers.

—Lio Tolstoy.

—"इस समयके समान उस समय भी धर्म मुख्यतः उन लोगोंके व्यवसाय एवं विश्वासका विषय था, जो कि आलसी एवं अत्याचारी थे और अपनेको बहुत अधिक महत्व देते थे। योग्यता, ईमानदारी, नेक-नीयती और सच्चरित्रता आदि सद्गुण अधिकांशमें नास्तिक लोगोंमें ही पाये जाते थे।"

—टालस्टाय।

१

धर्म क्या है ?

गुरुकुल-विश्वविद्यालय (कांगड़ी) के महाविद्यालय-विभागकी तीसरी कक्षाकी घटना है। वैदिक-साहित्यकी पढ़ाईका समय था। गुरुजी शतपथ-ब्राह्मणमेंसे गोमेध-यज्ञका प्रकरण पढ़ा रहे थे। उन्होंने अपने विचारके अनुसार गोमेध-यज्ञकी व्याख्या करते हुये बताया कि किस प्रकार गायको स्तूपके साथ बांधकर यज्ञमें उसकी बलि और आहुति दी जाय। गोमेध-यज्ञकी यह व्याख्या समाप्त होते न-होते एक विद्यार्थीने गुरुजीसे कुछ शंका करनेकी इच्छा प्रगट की। गुरुजीने प्रसन्नतापूर्वक शंका प्रगट करनेकी आज्ञा दी। विद्यार्थीने विनोत-भावसे पूछा कि यदि गोमेध-यज्ञकी इस व्याख्याको ठीक मान लिया जाय तो मुसलमानोंकी ईदके दिनकी (गायकी) कुर्बानी और हिन्दुओंके इस गोमेध-यज्ञमें क्या भेद है? गुरुजीने लगभग एक घण्टेतक संस्कृतमें व्याख्यान दिया और शंकाका समाधान करनेका यत्न किया।

पर, शंका मिटी नहीं। गुरुजी इसपर इतने आवेशमें आ गये कि उन्होंने विद्यार्थीको नास्तिक और शास्त्र पढ़नेके लिये अनधिकारी इत्यादि कहकर उस शङ्काको दबाना चाहा। परिणाम यह हुआ कि न केवल शङ्का करनेवाले विद्यार्थी, किन्तु सभी विद्यार्थियोंकी शतपथ-ब्राह्मण परसे श्रद्धा उठ गई। विद्यार्थियोंने रुचिके साथ उसको पढ़ना छोड़ दिया।

गुरुजीके स्वभाव, विचार और वृत्तिको स्पष्ट करनेके लिये लगभग उसी समयकी एक और घटनाका उल्लेख करना भी आवश्यक है। उस समयके वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड गुरुकुल देखनेके लिये आने वाले थे। गुरुकुलके इतिहासमें यह एक नयी बात थी। जिस संस्थापर सरकारकी सदा ही टेढ़ी और सन्देहात्मक दृष्टि रही हो, उसको देखनेके लिये सरकारके सबसे बड़े अधिकारीका आना कोई मामूली बात नहीं थी। इस लिये उसके स्वागतके लिये असाधारण तय्यारियां की गईं। स्वागतके कार्य-क्रमकी सूचना निकाली गई। नियत स्थानपर सब विद्यार्थियों तथा अध्यापकोंको एकत्रित होनेके लिये सूचित किया गया। गुरुजीने सूचना-पत्रपर लिख दिया कि 'म्लेछके स्वागतमें सम्मिलित होनेमें मैं असमर्थ हूं।' वे स्वागत-समारोहमें सम्मिलित नहीं हुये। वायसराय जब पढ़ाईका निरीक्षण करने आये, तब गुरुजी महाविद्यालयकी दूसरी कक्षाको संस्कृत-साहित्य पढ़ा रहे थे। वायसरायने कमरेमें प्रवेश करते ही गुरुजीसे हाथ मिलानेको हाथ बढ़ाया। गुरुजीने हाथ पीछे हटा लिया। वायस-

राय कुछ आगे बढ़े तो गुरुजी पीछे हटे। पर, पीछे ही दीवार थी। अधिक पीछे हटना संभव नहीं था। हाथ मिलाना ही पड़ा। वायसराय बिना ठहरे ही तुरन्त अगले कमरेकी ओर चल दिये। गुरुजी संस्कृतमें वायसरायको म्लेछ, पतित, भ्रष्ट इत्यादि गालियां देते हुये बाहिर निकले। गंगाके किनारे गये। रास्तेसे गोबर लिया। बहत्तर बार उस हाथको धोया, कपड़े धोये, गंगामें स्नान किया—इसके अलावा भी न मालूम क्या क्या प्रायश्चित किया ?

धर्मको अंधी-भावना, पुरातन-संस्कार तथा परम्परागत विचारोंको प्रगट करनेके लिये सम्भवतः इससे बढ़िया घटनाका उल्लेख नहीं किया जा सकता।

वैसे गुरुकुल-विश्वविद्यालय स्वतन्त्र विचारोंकी क्रीड़ा-भूमि है। सामाजिक विषयोंमें अत्यन्त उदार, धार्मिक मामलोंमें बिलकुल स्वतन्त्र और राजनीतिक विचारोंमें एकदम खरे स्नातक पैदा करनेका गुरुकुलको सच्चा गौरव है। गुरुकुलके आर्यसमाज द्वारा संचालित होनेपर भी वहांके स्नातक ऐसे आर्यसमाजी नहीं हैं, जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके खण्डनात्मक कार्यमें अपने तन-मन-धनको लगा देना ही धर्मकी सबसे बड़ी सेवा समझते हों, जो व्याख्यानों एवं लेखोंमें गुण-कर्म-स्वभावसे वर्णव्यवस्था माननेका निरन्तर समर्थन करते हुये भी व्यवहारमें जन्मके घेरेको लांघनेका साहस नहीं दिखा सकते हों, जो वेदोंका अध्ययन तो क्या दर्शन तक किये बिना उनके अन्धभक्त बने हुये हों, जो

सन्ध्या तथा हवनके मन्त्रोंका अर्थ जाने बिना ही तोतेकी तरह उनको पढ़ लेनेमें ही अपने धार्मिक कर्म-काण्डकी इतिश्री माने हुये हों और जो हिन्दीका काला अक्षर भैंस बराबर न जानते हुये भी आर्यभाषाके सबसे बड़े समर्थक एवं आचार-विचार-व्यवहारमें गोरोंके नाक-कान काटते हुये भी अपनेको आर्य-सभ्यताका सबसे बड़ा पोषक बतानेका दम भरते हों। सारांश यह है कि गुरुकुलके वातावरणमें पलने वालेके लिये किसी भी तर्कशून्य बातको स्वीकार करना संभव नहीं है, भले ही धर्मशास्त्र, परम्परा तथा रुढ़ि द्वारा उसका कितना भी समर्थन क्यों न होता हो ? इसलिये जहां गोमेध-यज्ञकी ब्राह्मणोंमें चर्चा होनेपर भी उस विधानको मानना संभव नहीं था, वहां गुरुजीका वायसरायको म्लेच्छ कहना भी ठीक नहीं माना जा सकता था।

ऐसी ही कुछ घटनायें थीं जिनसे इन पंक्तियोंके लेखकके मनमें विद्यार्थी-जीवनमें ही धर्मके सम्बन्धमें नाना प्रकारके शंकायुक्त विचार पैदा होने शुरू हो गये थे। फिर इतिहासका अध्ययन विशेष रूपमें करनेसे उससे यह छिपा नहीं था कि धर्मके नामपर भारत में कितना अनर्थ हुआ है ? धर्मकी आड़में ही वाममार्ग सरीखे सम्प्रदाय चल पड़े, जिनमें पंच-मकारों (मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन) को ही यम-नियम मान लिया गया और इन्द्रियोंके सुखोंके लिये किसी भी बातको उठा नहीं रखा गया।

मांस-मदिराके भक्तोंने देवताओंके नाम पर उनका व्यवहार शुरू किया। मन्दिरोंमें बकरों और भैंसोंकी बलि केवल इसलिये

शुरू हुई कि धर्मजीवी लोगोंके लिये अपनी जिह्वाकी लिप्सा पूरी करनेके लिये दूसरा कोई सहज मार्ग नहीं था। देवदासी-प्रथा ऐसे लोगोंकी व्यभिचार-लीलाका नग्न-रूप है। इस व्यभिचारका श्रीगणेश भी देवताओंके ही नाम पर हुआ और इस युगमें भी यह बेशर्मीकी प्रथा अव्याहत रूपमें चालू है। कौनसा ऐसा पाप है जिसका श्रीगणेश धर्मके नामसे नहीं हुआ है और धर्मके नामसे ही उसका समर्थन नहीं किया जा रहा है ? पारस्परिक प्रेम, सद्व्यवहार और एकताकी हत्या भी धर्मके नामसे ही की गई है। जात-पात, छूत-छात और खान-पानके भेद-भावकी दीवारें धर्मकी नींवपर खड़ी की गई हैं। पुरुषोंकी स्त्रियोंके प्रति समस्त मनमानीका समर्थन केवल 'धर्म' के नाम पर किया जाता है। पति 'देवता' है, अंधा, लंगड़ा-लूला एवं अपाहज होनेपर भी स्त्रीके लिये वह आराध्य-देव है और स्त्री है मिट्टीकी हांडी, पैर की जूती, काम-कलाके साधनकी मशीन एवं चौबीसों घण्टेके लिये अवैतनिक सेवा करने वाली दासी। इन सब विचारोंका जन्म कहांसे हुआ, कैसे ये सब विचार वर्तमान समाजमें दुध-पानीकी तरह समा गये और क्यों आज भी उनको दूर नहीं किया जा सकता ? इन और ऐसे सब प्रश्नोंका उत्तर स्पष्ट है। धर्मके गर्भसे ये सब विचार पैदा हुये हैं, धर्मने ही उनको वर्तमान-समाजके रग-रगमें समा दिया है और धर्म ही उनको दूर करनेमें सबसे बड़ी बाधा है। स्त्री और पुरुषमें किंवा पुरुष और पुरुषमें जितना भी पारस्परिक ऊंच-नीचका भेद-भाव, किंवा

असमानता पाई जाती है, उस सबको धर्मने पैदा किया है और अब तक भी वह धर्मके ही आश्रय पर समाजमें टिकी हुई है।

व्यक्तिगत एवं सामाजिक दृष्टिके अलावा राजनीतिक दृष्टिसे धर्मने देश अथवा समाजकी जो हानि की है, उसको कभी भुलाया नहीं जा सकता। उस हानिकी याद आते ही धर्म के प्रति विद्रोहकी भावना फुंकार मारती हुई सर्पिणीकी तरह जाग उठती है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मने ही देश, समाज किंवा राष्ट्रका सर्वनाश किया है। मुसलमानी समयके इतिहास से कितनी ही घटनायें इस सर्वनाशकी साक्षीके रूपमें उपस्थित की जा सकती हैं। वीर राजपूत क्षत्रियोंकी सेनायें शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर उपस्थित होनेपर भी सोमनाथके सुप्रसिद्ध विशाल मन्दिरका अटूट खजाना केवल इसलिये लुट गया कि धर्मके ठेकेदारोंने यह व्यवस्था दे दी कि "क्षत्रियोंको तलवार उठाने की आवश्यकता नहीं। मन्दिरमेंसे भगवान् उठेंगे और वे स्वयं सब म्लेच्छोंका नाश कर डालेंगे।" क्षत्रिय मिट गये, उनके भगवान् लुट गये और उनका खजाना भी बड़ी बेरहमीके साथ लूटा गया। शत्रु-सेना किलेके द्वार पर खड़ी हुई एक पर एक चोट कर रही है। धर्मके व्यवस्थापक यज्ञ शुरू करनेकी व्यवस्था देते हुये कहते हैं कि उसमें गोल-मिर्च डालते जाओ। जितनी गोल-मिर्च उसमें डाली जायेंगी, उतने ही शत्रु बाहिर मरते चले जायंगे। किला शत्रुओंके हस्तगत हो जाता है। यज्ञ करनेकी व्यवस्था देने वाले और करने वाले सबके सब गुलाम हो जाते

हैं। मुसलमान लोग कुछ गायें लाकर सामने खड़ी कर देते हैं। राजपूतोंकी उठी हुई तलवारें नीचे झुक जाती हैं। गोमाता पर तलवार कैसे चलाई जाय। भले ही पचीस-पचास गायोंके पीछे सारा देश गुलाम हो जाय और अपना भी सब जीवन गुलामीमें बिताना पड़े। एक राजपूत-राणा दूसरेको पत्र लिखते हैं कि क्यों न सब एक होकर शत्रुका सामना करें और अपने देशकी स्वाधीनताके यत्नमें सफल हों। उत्तर मिलता है कि छोटी जातके राणाकी आधीनतामें लड़ाईके मैदानमें खड़ा होना बड़े राजपूतोंकी कुल-मर्यादाके विपरीत है। मानो गुलामीका तौक गलेमें डाल कर अपनी स्वाधीनतासे हाथ धो बैठना कुल मर्यादाके अनुकूल था। ऐसी जितनी घटनायें चाहें उतनी इतिहासमेंसे उद्धृत की जा सकती हैं।

कहा जाता है कि धर्मकी रक्षाके लिये राजपूतोंने खून पसीना एक कर दिया, मुसलमानोंको यहां पछाड़ा वहां पछाड़ा, अकबरके दांत खट्टे किये, औरंगजेबकी नाकमें दम कर दिया और अपने सर्वस्वकी बाजी लगा दी। वीर सिखोंने भी ऐसा ही किया। शूरवीर मराठोंने उनको भी मात कर दिया। छत्रपति शिवाजी महाराज और गुरु गोविन्दसिंह और महाराणा प्रतापसिंहको गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, धर्म-संरक्षक आदि कहते हुये हम कभी थकते नहीं। सिख-मराठों-राजपूतोंकी बहादुरीके हम कायल हैं और वीर पुरुषोंकी वीरता, त्याग एवं तपस्या का हमें यथेष्ट अभिमान है। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि एक स्पष्ट ऐतिहासिक सचाई की

ओरसे जान बूझकर आंखें फेर ली जांय। परिणाम पर कुछ विचार ही न किया जाय। मुसलमानी कालका इतिहास बता रहा है कि न तो हम अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सके, न देशकी, न धर्मकी और न सभ्यता की ही। मुसलमानोंकी संख्या इतनी क्यों बढ़ गई? क्यों इतने अधिक प्रदेशमेंसे हिन्दुत्वकी छाया ही मिट गई?

इन प्रश्नोंके उत्तरमें मुसलमानी अत्याचारोंकी दुहाई दी जाती है, उनके हिन्दु द्वेषको अतिरंजित करके बताया जाता है और उनकी बुत-शिकनीका अत्युक्ति पूर्ण शब्दोंमें वर्णन किया जाता है। मानो अपना तो इसमें कोई दोष है ही नहीं। पर, वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि उसमें अपना भी कुछ कम दोष नहीं है। मुसलमानको छाया पड़ने पर जिस समाजमें स्त्रीका सतीत्व भ्रष्ट होता हो और वह त्याज्य समझी जाती हो, मुसलमानके हाथके पानी का छींटा मुंहमें पड़ जाने पर जिस समाजमें मनुष्य धर्म-भ्रष्ट एवं जाति-भ्रष्ट माना जाता हो और जिस समाजमें धर्मका स्थान हृदय नहीं किन्तु पेट मान लिया गया हो, उसका इस प्रकार पतन और ह्रास न होता, तो क्या होता?

भारतमें अंगरेजी-राजका प्रारम्भिक इतिहास इस कथनको और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। माना, मुसलमानोंने तलवारके जोरपर अपना मजहब बढ़ाया था, किन्तु ईसाइयोंने जो मजहब बढ़ाया है, उसका कारण तलवार नहीं है। उसका स्पष्ट कारण है हमारी वह कमजोरी जिसका कि मूल कारण हमारी धार्म्मिक-भावना है। कहते हैं कि दक्षिणमें डबल रोटीके जूठे

टुकड़ जिन कुंओंमें डाल दिये गये, उनका पानी पीनेवाले जाति-च्युत कर दिये गये और वे परधर्मी बननेके लिये बाधित हुये। इतना ही नहीं कितने ही लोगोंको समुद्र यात्राके लिये भी—भले ही उसका उद्देश्य उच्चशिक्षा प्राप्त करना क्यों न था—जातिच्युत और धर्मच्युत होना पड़ा है। जिस धर्मका हमको इतना अभि-मान है, वह वास्तवमें इतना कमजोर है कि उसका भ्रष्ट होना बच्चोंका खेल है, जिसके बिगड़नेमें तनिक भी समय नहीं लगता। जब कि मनुष्यके अभिमानका ही कुछ भरोसा नहीं, तब भला उसका क्या भरोसा हो सकता है, जिसका कि उसको सबसे अधिक अभिमान है ? जाति और कुलकी मर्य्यादाके समान ही धर्मकी मर्यादा भी इसीलिये क्षणभंगुर हो गई है कि मनुष्यको उसका बहुत अधिक अभिमान हो गया है। जो दूसरोंको नीच किंवा पतित समझता है, उसके नीच किंवा पतित होनेमें सन्देह ही क्या है ? अस्तु, हिन्दु-समाजका इसीलिये मुसलमानी कालमें इतना अधिक पतन हुआ। अंगरेजी-राजमें तो उसके पतनका चक्र और भी अधिक वेगसे घूमने लगा। ईसाई अपने क्रूस और बाईबिलके साथ इस देशमें इसी विश्वासके साथ घुसे थे कि वे बीस या तीस वर्षमें ही सारे देशको ईसाई बना लगे। लार्ड मैकालेको अपने ऊपर इतना विश्वास था कि उसने अपने पिताको १८३८ में लिखा था कि अबसे तीस वर्ष बाद बंगालमें एक भी व्यक्ति हिन्दु-धर्माभिमानी नहीं रहेगा। मद्रासमें ईसाइयोंका जो पहिला गिरोह धर्म-प्रचारके लिये आया था, उसकी यह आयोजना

थी कि एक तिहाई शताब्दिमें समस्त भारतको ईसाई-धर्मकी दीक्षामें दीक्षित कर लिया जायगा। निश्चय ही ईसाइयोंकी यह लालसा पूरी नहीं हुई किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दु-समाज-की धर्म-सम्बन्धी कमजोरियोंसे ईसाइयोंने लाभ उठानेमें कुछ भी कोर-कसर नहीं रखी। वे अब तक भी उनसे लाभ उठा रहे हैं। इस प्रकार हमारा धर्म और हमारी धार्मिक-भावना ही हमारे पतन,ह्रास और क्षयका कारण हो रही है।

'बीती ताहि बिसार दे'से भी काम नहीं चलता। क्योंकि धर्मसे होनेवाली इस हानिका क्रम अब भी जारी है। समाजमें फैले हुये पाखण्ड और पाप, छल और कपटका एकमात्र कारण धर्म है। जिन शास्त्रोंने बार बार 'न लिङ्गं धर्मकारणम्' की व्यवस्था दी है, उन शास्त्रोंके नामसे ही जनेऊ, चोटी आदिको इतनी प्रधानता दे दी गई है कि मानो उनके बिना मनुष्य धर्मसे ही च्युत हो जाता है और वैसे ये चिन्ह सब प्रकारके पापकी गारण्टी या परवाना हैं। जितना चाहो जनेऊ पकड़ कर झूठ बोल लो और दुनियाको ठग लो। बड़ी से बड़ी झूठी बातके लिये भी जनेऊ हाथमें लेकर सहजमें प्रतिज्ञा की जा सकती है। चोरी, झूठ, व्यभिचार आदि कोई भी पाप जनेऊ और चोटीके लिये निषिद्ध नहीं है। जप-तप और पूजा-पाठ भी मानो सब इसीलिये रचा गया है। व्रत, उपवास और तीर्थयात्राकी व्यवस्था भी संभवतः इसीलिये की गई है। पुनर्जन्मकी सद्गति किंवा मोक्षकी बात तो बहुत दूर की है, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस

जन्मके समस्त पापोंके प्रक्षालनका प्रबन्ध उस मनुष्यने बड़ी बुद्धिमानीके साथ कर लिया है, जिसने धर्मकी कल्पना, धर्म-चिन्होंकी रचना और धार्मिक अनुष्ठानोंका यह सब विधान इस संसारमें किया है। इस आविष्कारकी समाप्ति यदि पापोंके प्रक्षालन तक ही रहती तो भी बहुत था, किन्तु मनुष्य उससे भी आगे बढ़ गया है और उसने इन सब व्यवस्थाओं द्वारा पापका मार्ग बिलकुल खुला कर लिया है। पापकी सामग्री किंवा साधन रहनेपर रोक-टोक क्या रह जाती है ? यह स्पष्ट है कि जो जितना अधिक पाप करता है, वह उतना ही अधिक धार्मिक चिन्होंसे लदा रहता है या जो जितना अधिक धार्मिक चिन्होंसे लदा रहता है वह उतना ही अधिक पापके गर्तमें गिरा रहता है। सम्भवतः इसीलिये धार्मिक तीर्थस्थान इस समय पापके गढ़ बने हुये हैं। कौन-सा ऐसा पाप है जो इन तीर्थस्थानों पर नहीं होता ? धर्माभिमानी हिन्दुओंकी व्यभिचार-लीलाका कलङ्क धोनेके लिये तीर्थस्थानोंका जल मानो अमृत है। देवर, ससुर या ऐसे ही किसी दूसरे घर वालेकी पाशविक इच्छाकी शिकार बनी हुई अबोध एवं निरपराध विधवाको तीर्थ-यात्राके जालमें फंसा कर ही तीर्थ-स्थानपर ले जाकर निराश्रित बना कर छोड़ दिया जाता है। भ्रूण-हत्या किंवा गर्भ-पात तथा शिशु-हत्याका पाप तो इन तीर्थोंके मस्तकपर ऐसा लग चुका है कि वह शताब्दियों-के निरन्तर यत्नके बाद भी धुल नहीं सकेगा। अपने इस और ऐसे ही सब पापोंको तीर्थोंके माथे मढ़कर स्वयं निश्चिन्त हो

जानके सिवा तीर्थोंका उपयोग ही और क्या है ? वैसे भी तीर्थ-यात्राका प्रयोजन क्या है ? केवल यह है किये हुये पापोंसे छुटकारा मिल जाय तथा धर्मकी आमदनीमें दो-चार पैसे और जमा हो जांय। जिसके पास जितना ही अधिक तीर्थयात्राका रिकार्ड है, वह उतना ही अधिक धार्मिक समझा जाता है, भले ही उसका व्यक्तिगत जीवन कितना भी पतित क्यों न हो ?

इस प्रकार व्यक्तिगत, सामाजिक किंवा राजनीतिक आदि सभी दृष्टियोंसे धर्मने हिन्दु-समाजको जिस दीन-हीन अवस्थामें पहुंचा दिया है, उससे अधिक पतित अवस्थाकी कल्पना नहीं की जा सकती। हिन्दु-मुसलमानोंके पारस्परिक-संघर्षसे भारतीय राष्ट्रके मुखपर जो कालिमा लगी है, उसका प्रधान कारण भी धर्म किंवा धार्मिक-भावना ही है। पीपलकी टहनी, ताजियोंकी ऊंचाई, ईदकी कुर्बानी, मसजिदके लिये बाजेकी आवाज आदि बेहूदगियोंका तब तक मिटना संभव नहीं है, जब तक कि भारतीय-समाजके रग-रगमें 'धर्म' का घातक विष फैला हुआ है। इस पारस्परिक-संघर्षसे लगी हुई कालिखको भी इस विषको बुझाये बिना दूर करना सम्भव नहीं है। दक्षिण-भारतकी ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर-समस्याका आधार भी धर्म ही है।

धार्मिक वृत्तिके समाजसुधारक तुरन्त कह उठते हैं कि यह धर्म नहीं, धर्म का पतित-रुप और पतित-धार्मिक-भावना है जिस से देश, समाज अथवा राष्ट्रकी इतनी हानि हुई है। वे धर्मकी प्रशंसामें संस्कृतके वाक्य बोलते हुये कभी थकते नहीं। मनु आदि

के वाक्योंको उद्धृत करते हुये कहने लगते हैं कि "धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।" अर्थात् धर्मकी हमने हत्या की है इसी लिये हमारा सर्वनाश हुआ है। यदि हम धर्मकी रक्षा करें तो धर्म भी हमारी रक्षा करे। धर्मपर अन्ध-विश्वास रखने वाली भोली-भाली जनताको इस प्रकार ठगना सहज है. किन्तु विवेकसे काम लेने वालोंको संस्कृत-वाक्योंके भ्रमजालमें नहीं फंसाया जा सकता। माना कि जिस धर्मसे हुई हानिका ऊपर उल्लेख किया गया है, वह सत्य-धर्म नहीं है। पर प्रश्न यह है कि सत्य-धर्म क्या है ? कोई भी धर्मावलम्बी अपने धर्मको असत्य और दूसरे के धर्मको सत्य माननेके लिये तय्यार नहीं है। सभी एक दूसरेको मिथ्या बताते हैं और परस्पर एक दूसरेकी निन्दा करते हैं। हिन्दू धर्मकी अवस्था तो मदारीके पिटारेके समान हो रही है। देवी देवताओं और प्रचलित सम्प्रदायोंकी गणना करना असम्भव है। आश्चर्य तो यह है कि इनकी संख्या बड़ी तेजीके साथ बढ़ रही है और इनके द्वारा पैदा होनेवाला हठ, दुराग्रह, विरोध, द्वेष, ईर्ष्या तथा स्पर्धा भी प्रति दिन बढ़ रही है। जैनियोंके सम्बन्ध में दूसरे लोग यह कहते हैं कि "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छे-ज्जैनमन्दिरम्।" हाथीके पैर तले कुचले जानेका संकट सामने उपस्थित हो जानेपर भी आत्मरक्षा तकके लिये जैनीके मन्दिरमें नहीं जाना चाहिये। जैनियोंने दूसरोंके सम्बन्धमें यह कहना शुरू किया कि "गंगादि तीर्थों तथा काशी आदि क्षेत्रोंके सेवनसे कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता और गिरनार, पालीटाना तथा आबू

आदि तीर्थ या क्षेत्र मुक्ति-पर्यन्त देने वाले हैं।" "शिव, विष्णु आदिकी मूर्तियोंकी पूजा करना नरकका साधन है।" अठारह पुराणोंमें परस्पर जो भिन्नता एवं विरोध पाया जाता है, वह भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है। शिवपुराणमें शैवोंने शिवको परमेश्वर मान कर विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश और सूर्य आदिको उनका दास बताया है। वैष्णवोंने विष्णुपुराणमें विष्णुको परमात्मा माना और शिव, आदिको विष्णुका दास। देवी भागवतमें देवी परमेश्वरी और शिव, विष्णु आदि उसके किंकर बताये गये हैं। गणेशपुराण (खण्ड) में गणेशको ईश्वर और शेष सब उसके दास कहे गये हैं। ऐसी स्थितिमें इन धर्मों द्वारा परस्पर घृणा, द्वेष और विरोध न फैले तो क्या हो? हिन्दू-समाजके सम्प्रदायोंकी जब यह स्थिति है, तब हिन्दु-मुसलमान तथा ईसाइयोंमें जो पारस्परिक द्वेष, विरोध, घृणा एवं तिरस्कार की भावना है, उसको स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं।

इन सब धर्मों किंवा सम्प्रदायोंकी अवस्था इस समय ठीक वैसी ही है जैसी कि बाजारमें दुकानोंकी होती है। जैसे कि हर-एक दुकानदार अपने मालको बढ़िया और दूसरेकी दुकानके मालको घटिया बताता है वैसे ही हरएक धर्मको मानने वाला अपने धर्मको सर्वश्रेष्ठ एवं मुक्तिका एकमात्र साधन और दूसरों के धर्मको अधम, पतित एवं निकृष्ट कहता है। मन्दिर, मसजिद, और गिर्जा सरीखे धर्मस्थानों एवं तीर्थस्थानोंमें मुक्तिका सौदा होता है, धर्मका मोल-तोल किया जाता है और इन स्थानों पर

होने वाला धर्मानुष्ठान वास्तवमें भेंट पूजा किंवा दक्षिणा पर ही एकमात्र निर्भर है। कितने ही तीर्थोंमें कितने ही मन्दिर हैं जिनमें चार आना, आठ आना, सवा रुपया या पांच रुपया आदिकी दक्षिणा देने पर नियत स्थान तक जाकर धर्मकी नियमित आमदनी करनेकी बेहूदी व्यवस्था की गई है। पापके समान धर्मकी आमदनी भी मानो केवल पैसे वालोंके लिये ही सुरक्षित रख ली गई है। गरीबको वास्तवमें बड़ा सन्तोष मानना चाहिये कि वह पाप-पुण्यके इस झंझटसे इसीलिये अलिप्त है कि वह धर्मजीवी लोगोंकी नियत दक्षिणा चुकानेकी शक्तिसे वंचित है। इस प्रकार धर्मने मनुष्यकी दृष्टिको संकुचित, वृत्तिको अनुदार, स्वभावको असहिष्णु, दिमागको सनकी और आचार-विचारको पतित बना कर मनुष्य-समाजके जीवनमें हठ, दुराग्रह, विरोध, ईर्ष्या, और द्वेषकी भावनाको मनुष्यके देहमें रुधिरकी तरह पैदा कर दिया है। यही कारण है कि मौलाना मुहम्मद अली सरीखा विद्वान् व्यक्ति भी यह कहनेकी मूर्खता कर सकता है कि "मैं अदनेसे अदने मुसलमानको भी, क्योंकि वह मुसलमान है; महात्मा गान्धीसे कहीं अधिक श्रेष्ठ मानता हूं।" मौलाना मुहम्मद अली की दृष्टिके समान ही प्रायः सभी लोगोंकी दृष्टिको धर्मने ऐसा मंद बना दिया है कि वे मौलानाको उसकी मूर्खताके लिये कोसते हुये भी स्वयं उसीके अनुसार रात-दिन आचरण करते हैं। हमारे दैनिक जीवनकी छोटीसे छोटी घटना भी इस मूर्खतासे खाली नहीं है। ब्राह्मण कितना भी पतित, गंदा, मैला, भ्रष्ट,

गंजेड़ी और भंगेड़ी आदि क्यों न हो, उसके हाथका पानी पीने और खाना खानेमें बड़ेसे बड़े धर्माभिमानीको भी कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु किसी छोटी जातिका व्यक्ति कितना भी पवित्र, सदाचारी, साफ-सुथरा और व्यसनोंसे रहित क्यों न हो, उसके हाथका पानी पीना और खाना खाना धर्मकी दृष्टिसे एकदम निषिद्ध है। गलेमें जनेऊ होना चाहिये, भले ही उसपर मक्खियां भिनभिनाती हों और चाहे धोती पर इतना मैल लदा हो कि मानो तारकोलमें भिगो दी गई है। बदनका पसीना बहकर भलेही रसोईके नमकके स्वादको कुछ तेज कर दे और तमाखूकी चिलमके हाथोंसे ही क्यों न आटा साना गया हो। पर, रसोइया यदि 'महाराज' है तो यह सब धर्मकी दृष्टिसे 'जा' है। प्यास लगी हो, बीड़ीका नशा दिमागमें खलल पैदा करे या तमाखू खानेकी सनक समा जाय तो तुरन्त पासमें बैठे हुये की जात पूछी जायगी। जहां एक जात हुई कि भाईचारा शुरू हो जायगा। जातके बाद कुछ और मालूम करनेकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। दैनिक जीवनका समस्त व्यवहार इस प्रकार रहते हुये क्या इससे इनकार किया जा सकता है कि मौलाना मुहम्मद अलीकी मूर्खता हमारे आचार-विचारका एक ऐसा हिस्सा बन गई है, जिसको कि हम उससे अलग नहीं कर सकते? अपनी जात किंवा धर्मके व्यक्तिके साथ जो भाईचारा सहजमें हो जाता है, वह दूसरी जात किंवा धर्म वालोंके साथ क्यों नहीं होता? जैसा प्रेम, विश्वास और व्यवहार हम अपनी

जात या धर्म वालेके साथ कर सकते हैं, वैसा दूसरोंके साथ क्यों नहीं करते ? इसलिये कि हम अपनी जात और धर्म वाले अदनेसे अदने व्यक्तिको भी दूसरी जात किंवा धर्म वाले श्रेष्ठसे श्रेष्ठ व्यक्तिसे भी अधिक श्रेष्ठ, पवित्र और उच्च समझते हैं। धर्मकी दुकानदारी करने वाले पण्डे-पण्डित-पुरोहित और पुजारी तो यहां तक कहनेकी हिमाकत करते हैं कि उनके रजिस्टरमें नाम दर्ज कराना ही इस संसारके समस्त पापोंसे मुक्ति पानेके लिये बस है। हम लोग ईसाइयोंकी गिर्जाघरकी प्रार्थना का मजाक करते हैं और उनकी इस भावनाको खिलवाड समझते हैं कि प्रभु ईसा संसारके समस्त पापोंके लिये शूली पर चढ़ चुके हैं, पर हमारी अपनी प्रार्थना और भावना क्या है ? धर्मोंके बाह्य रूपमें और उनके बाह्य अनुष्ठानमें भेद अवश्य है, किन्तु उन सबका अन्तरात्मा एक ही है। इसलिये धर्मके किस विकृत रूपको कोसा जाय, देश-समाज अथवा राष्ट्रकी वर्तमान हानिका दोष किसके माथे मढ़ा जाय और किसको हेय बताया जाय ? जड़ तो सबकी एक ही है, शाखायें जरूर अलग अलग हैं। इसीसे किसीने बिलकुल ठीक कहा है कि :—

"श्रुतयोऽपि भिन्नाः स्मृतयोऽपि भिन्नाः
नैको मुनि र्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्था ॥"

अर्थात् "श्रुति-स्मृति सरीखे सभी धर्मशास्त्रोंमें परस्पर भिन्नता

है। इससे धर्मशास्त्र लिखनेवाले किसी भी मुनिका वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता। धर्मका तत्व बड़ा गहन है। साधारण मनुष्यको उसी मार्गका अवलम्बन करना चाहिये जिसका अवलम्बन महापुरुषोंने अपने जीवनमें किया है। इस कथनमें जिस सचाईकी ओर संकेत किया गया है, उसको थोड़ा खोलकर स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है।

उक्त सचाईका सीधा और स्पष्ट अर्थ यह है कि शास्त्रोंके आधार पर धर्मका निर्णय नहीं किया जा सकता। जितने धर्म हैं, उनसे कहीं अधिक शास्त्र हैं। फिर इन शास्त्रों पर भी पण्डितोंने आजकल एकाधिकार किया हुआ है। अब इस एकाधिकारकी दीवार बहुत कुछ गिर चुकी है। फिर भी उसका आडम्बर काफी मात्रामें बना हुआ है। यद्यपि इन शास्त्रोंके अर्थ और व्याख्या करनेका अधिकार भी पण्डितोंको ही है, तो भी इस सम्बन्धमें जितने मुंह उतनी बातें सुन पड़ती हैं। एककी की हुई व्याख्या दूसरेके साथ नहीं मिलती। सर्वसाधारणके पास इतनी शिक्षा भी कहां है कि वे शास्त्रोंको या शास्त्रोंकी व्याख्याको ही पढ़ सकें? इन शास्त्रोंके सम्बन्धमें दूसरी एक बात भी बड़ी ही रहस्यमय है। वह यह है कि धर्मग्रन्थ जिनके नामसे प्रचलित हैं वे उनके रचयिता नहीं हैं। सिखोंके ग्रन्थ-साहबमें गुरुओंकी वाणीका संग्रह किया गया है। वाणी गुरुओंकी है और संग्रह करने वाले दूसरे हैं। वेदोंके लिखने वाले ऋषि हैं, किन्तु उनके अन्तरात्मामें उनकी प्रेरणा करने वाले स्वयं परमात्मा हैं। ईसाई

तो स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि बाइबिल ईसाके बाद लिखी गई है। सारांश यह है कि इन धर्मग्रन्थोंकी रचना ही कुछ ऐसी रहस्यपूर्ण है कि सीधे-सादे व्यक्तिको ठगनेमें कुछ अधिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ती। इसीलिये ये धर्मग्रन्थ भोली-भाली जनताको ठगनेके काममें अवश्य आ सकते हैं, किन्तु इनके द्वारा सत्य-धर्मका निर्णय करना सर्वसाधारणके लिये संभव नहीं है। सर्वसाधारणका उन तक पहुंचना ही अशक्य है। सर्वसाधारण में कूट-कूट कर यह विचार भर दिया गया है कि धर्म बड़ा गहन है। उसके मर्मको समझनेका यत्न करना ही वृथा है। सम्भवतः इसीलिये मन्दिर और तीर्थ ऐसे अगम्य पहाड़ोंमें बनाये गये हैं कि वहां जाना और आना सर्वसाधारणके लिये अत्यन्त कष्टसाध्य है। जो मन्दिर या तीर्थ सर्वसाधारणकी पहुंचसे जितना ही दूर है उसका उतना ही अधिक माहात्म्य है। रामेश्वर, गया, जगन्नाथ (पुरी), हरिद्वार, द्वारिका, अयोध्या, काशी आदि धामोंकी रचना इसी दृष्टिसे की गई थी। उनकी रचना करने वालोंको क्या मालूम था कि रेल और मोटरका युग भी कभी आ पहुंचेगा और तीर्थ अथवा धाम मनुष्यकी पहुंचसे इतना परे नहीं रहेंगे। बद्रीनारायण और केदारेश्वर आदि तीर्थ अब भी कुछ ऐसे हैं जिनके द्वारा तीर्थोंके माहात्म्यके भ्रमजालमें जनताको अब भी फँसाये रखा जा सकता है और उसके दिमागमेंसे इस विचारको दूर नहीं होने दिया जाता कि धर्म बड़ा ही गहन है और उसका मर्म समझना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिरका काम

है। सचमुच, धर्म एक हौवा है जिसके द्वारा कुछ लोग सर्व-साधारणको अपने हाथकी कठपुतली बनाये रख कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। माता बच्चेको अपने काबूमें रखनेके लिये बिल्लीका भय दिखाया करती है। जब देखती हैं कि बच्चा बिल्लीसे नहीं डरता तब उसको किसी दूसरी चीजका भय दिखलाती है। भूतका भय बड़ा भय है, क्योंकि भूत नामकी किसी भी वस्तुका अस्तित्व इस संसारमें नहीं है। अस्तित्व-शून्य वस्तुकी छाप मूर्खों पर बहुत जल्दी लग सकती है। फिर यदि उसको अगम्य, गहन, पहुंचसे परे बता दिया जाय तो उसके नामसे लोगोंको ठगना इतना सहज हो जाता है कि उसके लिये कुछ अधिक श्रम करने की आवश्यकता नहीं रहती। भूतोंकी लीलाके समान धर्मकी और जन्त्र-मन्त्र करनेवालों की लीलाके समान पण्डे-पण्डित-पुरोहित एवं पुजारियोंकी लीला है। ये सभी संसारको ठगनेके लिये जनताकी अज्ञानता, सरलता और सांसारिक संकटसे छुटकारा पानेकी स्वाभाविक इच्छासे एक-सा लाभ उठाते हैं। दुःख दूर करके सुख प्राप्त करनेकी इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें है। उसीके लिये वह अहोरात्र यत्न करता रहता है। सुख मिले चाहे न मिले, पर सुखकी आशा की मृगतृष्णामें वह बराबर भटकता रहता है। इसीसे सुख प्राप्तिकी आशा दिलाकर धर्म के नामसे मनुष्यको इतना ठगा गया है कि उससे अधिक उसको ठग सकना संभव नहीं है। धर्मके साथ सुखका इतना अधिक नाता जोड़ दिया गया है कि यदि सुख और धर्म का सम्बन्ध विच्छेद

कर दिया जाय तो फिर धर्मके नामसे किसीको भ्रमजालमें फंसाना शायद ही संभव रहे। सभी धर्मोंमें मोक्षकी कल्पना कितनी सुन्दर, आकर्षक और मोहक की गई है ? संसारको मिथ्या और माया समझने वालोंने मोक्षकी कल्पना भी वैसी ही की है। उन्होंने अपने भक्तोंको बताया है कि न वहां सुख-दुःखका द्वन्द है, न जन्म मरणका बंधन और न किसी प्रकारका कुछ झंझट ही। संसारको भोग-विलासका क्षेत्र मानने वालोंकी इन्द्रपुरीकी कल्पना कितनी बढ़िया है ? अप्सरायें वहां हैं, सुरापानका वहां उपयुक्त प्रबन्ध है और बाग-बगीचोंकी हरियावलका तो कहना ही क्या है ? मुसलमानोंका बहिश्त हिन्दुओंकी इन्द्रपुरीसे भी अधिक भरपूर है। हूरों, गुलमों और शराबके चश्मों आदिकी कल्पनामें कुछ भी कोर-कसर नहीं रखी गई है। हिन्दू अवतारोंकी कल्पना और पुराणोंमें उनका वर्णन भी इस कथनका समर्थक है। भागवतमें श्रीकृष्णकी गोपियोंके साथकी रास-लीला, जलक्रीड़ा और माखन-चोरीके वर्णनका प्रयोजनही और क्या है ? बिना उनके भागवतमें क्या आकर्षण रह जाता ? प्रायः ऐसी ही दूसरी सब कल्पनायें हैं। इन कल्पनाओंसे धर्म-सम्बन्धी सभी कल्पनाओंकी सचाईका अनुमान कर लेना चाहिये और उनकी वास्तविकताको जान लेना चाहिये। सारांश यह है कि धर्म एक कोरी कल्पना है, जिसके चक्करमें पड़कर मनुष्यने अपने जीवनको नितान्त दुःखी बना लिया है। सुख तो मिला नहीं पर दुःखोंका सिलसिला इतना बढ़ गया है कि साधारण

मनुष्यको संसारमें दुःखोंके सिवा कुछ और दीखता ही नहीं है। इससे अधिक और क्या आश्चर्य हो सकता है कि इतना दुःख, संकट और झंझट उठानेके बाद भी मनुष्यके दिमागमेंसे धर्मका भूत दूर नहीं होता।

२-क्या धर्मोंका संशोधन सम्भव है ?

—"बुद्ध तथा महावीर स्वामीका सर्वस्व-त्याग, शंकराचार्यका प्रकाण्ड-पाण्डित्य, दादू-कबीर-नानक तथा रामदासका सात्विक-जीवन, गुरु गोविन्द तथा छत्रपति शिवाजीकी क्षात्रवृत्ति, राजा राममोहन रायका अटूट-धैर्य, स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थका महान्-व्यक्तित्व और स्वामी दयानन्दकी प्रतिभा-सम्पन्न तार्किक-शक्ति जिस कार्यको नहीं कर सकी, उसके पूरा होनेकी अब भी आशा रखना बालूसे तेल निकालनेके समान है।

२

क्या धर्मोंका संशोधन संभव है ?

धर्मकी वास्तविकता पर इतना विचार करनेके बाद अब थोडा विचार इस सम्बन्धमें भी करना चाहिये कि इन धर्मोंका संशोधन हो सकता है कि नहीं? धर्म-सुधारका आन्दोलन भी प्रायः उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी कि धर्मकी कल्पना है और उस आन्दोलनपर दृष्टिपात करनेमें यह सहज ही समझमें आ जाता है कि धर्मोंका संशोधन एक ऐसा काम है, जिसमें सफलता मिलना बिलकुल असम्भव है। सच पूछो तो धर्मके संशोधन करनेके यत्नसे ही धर्मोंकी संख्या बरसाती कीड़ोंके समान बढ़ती चली गई है। संसारके सब धर्मोंको मिटाकर एक सत्य धर्मके प्रचार करनेकी कल्पनासे ही इस समयके धर्मोंका यह सब जंजाल पैदा हुआ है। बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं। स्थाली-पुलाक-न्यायसे धर्म-सुधारके आन्दोलनको परख कर लेनी चाहिये। उन सम्प्रदायोंकी यहां चर्चा नहीं करनी है, जिनका जन्म मनुष्यकी विवेकरहित स्वार्थ-बुद्धिसे वैसे ही हुआ है जैसे कि कोई साधु भगवान्की सृष्टि

करता है। वह धूनी रमाकर किसी भी पत्थरपर सिंदूर लगा कर बैठ जाता है और भक्त लोग उस पत्थरको ही भगवान् मानकर उसपर चढ़ावा चढ़ाने लग जाते हैं। साधु यदि ठग-विद्यामें निपुण हुआ तो वहां मन्दिर तक खड़ा होनेमें कुछ देर नहीं लगती। बिना किसी परिश्रमके साधुकी पेट-पूजाका सवाल हल हो जाता है। ऐसे ही देवी, देवताओं किंवा भगवान् तथा उनके मन्दिरोंके समान कितने ही धर्म, सम्प्रदाय अथवा पन्थ संसारमें विशेषतः भारतमें प्रचलित हो चुके हैं। इस प्रसंगमें उनके सम्बन्धमें विचार नहीं करना है। यहां तो उनके ही सम्बन्धमें विचार करना है जिनका उद्गम-स्थान धर्मके सुधार अथवा संशोधनका आन्दोलन है।

मुसल मानी कालमें दादू, कबीर, नानक और रामदास आदि अनेकों सन्त और महात्मा हुये हैं, जिनका उद्देश्य अपने समय की बेहूदगियोंको मिटाकर सत्य-धर्मका प्रचार करना था। पर, हुआ क्या ? उन सभीके नामसे एक एक धर्म अथवा सम्प्रदाय चल पड़ा। बुद्ध और महावीर स्वामीके जीवनका लक्ष्य क्या था ? वैदिक-कालीन हिंसाको दूर करके अहिंसाकी स्थापना करनेका बीड़ा उन्होंने अपने जीवनमें उठाया था। पर, कालान्तर में उनके नामसे बौद्ध और जैन धर्मों किंवा सम्प्रदायोंकी स्थापना हो गई। स्वामी शङ्कराचार्यने नास्तिकताको दूर करके फिरसे वैदिक मतको पुष्ट करनेका यत्न किया और देशमें वेदान्तके नामसे एक नया ही पन्थ चल पड़ा। मुहम्मद-साहब और ईसा

मसीहके यत्नका परिणाम भी यही हुआ कि संसारमें नये सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति हो गयी। इसी कालमें स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय सरीखे महापुरुषोंके यत्नका यही फल हुआ कि आर्यसमाज और ब्राह्मसमाजके रूपमें धर्मोंकी संख्यामें वृद्धि ही हुई। फिर इन सभी धर्मों, सम्प्रदायों किंवा पन्थोंके भी इतने भेद तथा इतनी शाखा-प्रशाखायें हो गई हैं कि 'एकोऽहं बहुस्याम्' का कथन इनपर सोलह आना पूरा उतरता है। एक प्रकृति संसारकी रचनाके रूपमें जिस प्रकार नाना रूपोंमें देख पड़ती है, उसी प्रकार एक धर्मके भी इतने रूप हो गये है कि उनका समझना तो बहुत दूरकी बात है, उनकी पूरी-पूरी गिनती भी नहीं हो सकती। उनकी संख्यासे हमको कुछ विशेष प्रयोजन नहीं, हमारा उद्देश्य तो यह ही स्पष्ट करना है कि धर्मोंके सुधार या संशोधनके यत्न अथवा आन्दोलनसे धर्मोंका सुधार या संशोधन न होकर धर्मोंकी संख्यामें बेहिसाब वृद्धि हुई है। इसलिये ऐसे आन्दोलन अथवा यत्नसे अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती।

धर्म-सुधारके आन्दोलनका पूरा इतिहास यहां देनेकी आवश्यकता नहीं। फिर भी इतना अवश्य लिखना है कि बुद्ध तथा महावीर स्वामीका सर्वस्वत्याग, शंकराचार्यका प्रकाण्ड-पाण्डित्य दादू-कबीर-नानक तथा रामदासका सात्विक जीवन, गुरु गोविन्द एवं छत्रपति शिवाजीकी क्षात्र-वृत्ति, राजा राममोहन रायका अटूट धैर्य, स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थका महान्-व्यक्तित्व और स्वामी दयानन्दकी प्रतिभा-सम्पन्न तार्किक-शक्ति

भी जिस कार्यको नहीं कर सकी, उसके पूरा होनेकी अब भी आशा रखना बालूसे तेल निकालनेके समान है। इस असाध्य रोगके उपचारकी आशा रखना आकाश-कुसुमके सदृश है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्मके आधार पर देशमें एकता पैदा नहीं हो सकती और न कुछ राष्ट्रीय-शक्ति ही पैदा की जा सकती है। राष्ट्रीयतासे धर्म बिलकुल विपरीत है। इतिहास तो यह सिद्ध करता है कि धर्मको जिस राष्ट्रकी रचनाका आधार बनाया गया, उसका अस्तित्व चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सका। भारतमें राष्ट्रीयताके पैदा होनेमें धर्म एक बहुत बड़ी बाधा है। गुरु गोविन्द, महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजीको हम केवल गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक एवं हिन्दुधर्म-संरक्षक ही नहीं मानते, अपितु उनको राष्ट्रीयताके महान् देवदूत मानकर उनके प्रति श्रद्धा और भक्तिसे बार बार मस्तक नवाते हैं। गुरु गोविन्दसिंहजी महाराज स्वयं तो किसी राष्ट्रकी स्थापना करनेमें सफल नहीं हुये, किन्तु उनकी भावनासे प्रेरित होकर महाराज रणजीतसिंहने पंजाबमें स्वतन्त्र राज्यकी स्थापना अवश्य की। पर, वह उनके बाद स्थिर नहीं रह सका, क्योंकि भले ही वे स्वयं राष्ट्रीय वृत्तिके थे, किन्तु उनके चारों ओरका वातावरण तो निरा धार्मिक था। एक प्रकारसे उस स्वतन्त्र राज्यका आधार धर्म ही था। श्री छत्रपति शिवाजी महाराज द्वारा संस्थापित राष्ट्रके विनाश के सम्बन्धमें श्रीयदुनाथ सरकार सरीखे इतिहासज्ञोंने भी उक्त सचाईको स्वीकार किया है। मुसलमान वैसे तो इस देशमें सात

आठ सौ वर्ष तक बने रहे, पर उनकी राजसत्ता निर्विघ्न रूपमें कितने वर्षोंके लिये स्थिर रह सकी ? इस सब स्थिति पर इन पंक्तियोंके पाठकोंको स्वयं ही थोड़ा विचार करना चाहिये।

धर्मके आधार पर राष्ट्रीयता पैदा करने का यत्न करने वालोंमें आर्य-समाजके संस्थापक स्वामी दयानन्दका स्थान सबसे प्रमुख है। उनके धर्मसुधार, धर्मप्रचार एवं आर्य-समाजकी स्थापनामें राष्ट्रीय-भावनाकी छाया स्पष्ट देख पड़ती है। वेदोंकी राष्ट्रीय दृष्टिसे व्याख्या करने वाले पहिले व्यक्ति स्वामी दयानन्द हैं। दूसरे धर्मों किंवा सम्प्रदायोंकी छानबीन एवं खण्डन करनेमें उन्होंने जिस निर्भय, निर्बाध और समझौता-रहित नीति एवं वृत्तिसे काम लिया, वह दूसरोंके लिये अब भी असह्य है और उसीके कारण उनपर असहिष्णु होनेका दोष भी लगाया जाता है। पर, इसमें सन्देह नहीं कि उनके खण्डनात्मक कार्यमें भी राष्ट्रीयता छाई हुई है। दूसरे धर्मों एवं सम्प्रदायोंकी परख उन्होंने केवल शास्त्रीय दृष्टिसे ही नहीं की, किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिको भी इस परखमें प्रमुख स्थान दिया है। अपने जीवनका एक अच्छा बड़ा भाग देशी राज्योंमें बिताने एवं एक देशी राज्यके सुधारके यत्नमें ही अपने जीवनकी बाजी लगा देनेसे उनकी राष्ट्रीयताका स्पष्ट परिचय मिलता है। उनका सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' राष्ट्रीयताके रंगमें आदिसे अन्त तक रंगा हुआ है। उक्त ग्रन्थके छठे समुल्लास (हिस्से) में विशेषरूपमें राष्ट्र-धर्मकी ही व्याख्या की गई है। भारतको न केवल स्वराज्य

किन्तु साम्राज्य, चक्रवर्ती-राज्य और सार्वभौम-चक्रवर्ती-राज्यका भी एकाधिकारी उन्होंने स्थान स्थानपर उद्घोषित किया है। स्वामी दयानन्दको राष्ट्रीय-महापुरुष सिद्ध करना इस लेखका उद्देश्य नहीं है। * इतना भी उनके लिये ही लिखा गया है, जो उनकी राष्ट्रीयतासे सर्वथा अनभिज्ञ हैं और उनको केवल एक पादरीके समान धर्म-प्रचारकके रूपमें देखते हैं। स्वामी दयानन्द धर्म और राजनीतिके बीचमें खड़े हुये उस व्यक्तिके समान हैं, जो दोनोंको एक करके भारतीय राष्ट्रका संगठन धर्मके आधार पर करना चाहते थे अथवा भारतमें धर्मके गर्भमेंसे ही राष्ट्रीयताको पैदा करना चाहते थे। उनके शुभ-यत्नोंके सफल किंवा विफल होनेकी परीक्षा आर्य-समाजकी वर्तमान-स्थितिसे करनी चाहिये। इस समयका आर्य-समाज राष्ट्रीयताको प्रायः भूल गया है। सामूहिक रूपमें आर्य-समाजने राजनीतिसे अपना नाता ऐसा तोड़ लिया है, जैसे कि राजनीतिसे उसका कभी कोई सम्पर्क था ही नहीं और स्वामी दयानन्द भी राजनीतिसे एकदम रहित थे अथवा स्वामी दयानन्दने आर्य-समाज को अपने जिस मिशनको पूरा करनेका काम सौंपा है, उसमें राजनीतिके लिये कुछ स्थान है ही नहीं। राजनीतिक दृष्टिसे आर्यसमाजका भी वैसा ही नैतिक-

* इस विषयमें अधिक जाननेके लिये लेखककी लिखी हुई 'दयानन्द-दर्शन' पुस्तक देखनी चाहिये। उसमें स्वामी दयानन्दके राष्ट्रीय-रूपका दर्शन कराया गया है और उनके लेखोंसे यह सिद्ध किया गया है कि वे राष्ट्रीय-महापुरुष थे।

पतन हो चुका है, जैसा कि दूसरे अनेक धर्मों किंवा सम्प्रदायोंका हुआ है। गुरु गोविन्दसिंहजीने अपने शिष्योंके हाथमें कृपाण देकर उनको सिंह (शेर) और अकाली (काल जिनको खा नहीं सकता) बनाया था, पर आज उनकी क्या स्थिति है ? आज न वे शेर हैं और न कालके भयसे ही ऊपर उठे हुये हैं। गुरुने अकालियोंको जात-पात, छूत-छात और ऊंच-नीचके भेद-भावसे निखालिस 'खालसा' बनाया था, पर आज उनमें वे 'विवेकी' कहे जाते हैं, जो कि इस भेद-भावके कीचमें पूरी तरह धंसे हुये हैं। इससे अधिक नैतिक-पतन और क्या हो सकता है ? इसी प्रकार आर्य-समाजका भी नैतिक-पतन हुआ है। जिस समाजमें स्वराज्यके लिये अहोरात्र यत्न होना चाहिये, उसमें धर्म-सुधार एवं धर्म-प्रचारकी कोरी डींगे हांकी जाती हैं, स्वराज्यका वहां नाम भी नहीं लिया जाता। आर्य-समाज आज केवल एक धार्मिक और सामाजिक सम्प्रदाय रह गया है। हिन्दू जातिके बहुतसे बहमों और बेहूदगियोंको उसने जरूर दूर किया है। समाज-सुधारके क्षेत्रमें उसकी सेवा बहुत बड़ी है। शिक्षा प्रचारका भी उसने बहुत सराहनीय कार्य किया है। किन्तु राजनीतिक क्षेत्रसे आर्य-समाज दुम दबाकर ऐसा भागा है कि उससे कोसों दूर जा खड़ा हुआ है। आर्य-समाजी घरमें ही पैदा होने, आर्य-समाजी संस्था (गुरुकुल-कांगड़ी) में लगातार चौदह वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने एवं आर्य-समाजी (वैदिक) साहित्यका यथा-सम्भव अधिकसे अधिक अध्ययन

करनेसे इन पंक्तियोंका लेखक दावेके साथ यह लिखनेका साहस करता है कि आर्य-समाजने स्वामी दयानन्दके राष्ट्रीय-मार्गका सर्वथा त्याग कर दिया है। उनके मिशनमें अन्तर्हित राष्ट्रीयता-को भुलाकर उनके मिशनको बिलकुल निर्जीव बनाकर अधिकांशमें अपनेको भी महत्वहीन बना लिया है। कुछ वर्ष पहिले आर्य-समाजके प्रति लोगोंका जो आकर्षण था, आज वह 'नहीं' के समान हैं। धर्मकी कोरी गप्पें हांकनेका और क्या परिमाण हो सकता था? वस्तुस्थिति तो यह है कि धर्मके आधार पर राष्ट्री-यता पैदा करनेके यत्नका कुछ और परिणाम हो ही नहीं सकता था। इतने स्पष्ट उदाहरणके बाद भी यदि कोई धर्मके आधार पर देशमें एकता, राष्ट्रीयता किंवा राष्ट्रीय-शक्ति पैदा होनेमें विश्वास या भरोसा रखता है तो बलिहारी है उसकी बुद्धि की।

इसी प्रसंगमें यह भी नहीं भुलाना चाहिये कि धर्मके आधार पर जो लोग एकता, राष्ट्रीयता किंवा राष्ट्रीय-शक्ति देशमें पैदा करना चाहते हैं, उनका मार्ग ही इतना भ्रमात्मक है कि उसमें सफलता पाना रेगिस्तानमें पानीका चश्मा ढूंढ़ निकालनेके समान है। यह स्पष्ट है कि न तो २१-२२ करोड़ हिन्दू मुसलमान बनाये जा सकते हैं और न ६-७ करोड़ मुसलमान ही सबके सब हिन्दू बन सकते हैं। जब कि कोई भी ऐसा धर्म नहीं है, जिसके सामने सबके सब देशवासी सिर झुकानेको तय्यार हों, तब यह कैसे माना जा सकता है कि धर्मके आधार पर देशमें एकता, राष्ट्रीयता किंवा राष्ट्रीय-शक्ति पैदा की जा सकती है।

३-तो किया क्या जाय ?

—"The church, the temple, the mosque I detest them all. Break them down, O, Thou Beautious Spirit of Truth, these narrow barriors that devide men and men."

—"मैं इन सब गिर्जाघरों, मन्दिरों और मसजिदोंसे सख्त नफरत करता हूं। ऐ सत्यकी पवित्र-भावना ! मनुष्यको मनुष्यसे पृथक करने वाली इन संकुचित दिवारोंको तू गिरा दे।"

—"I have no religion and times I wish all religions at the bottom of the sea."

—Ghazi Mustapha Kemal Pasha.

—"मैं किसी भी धर्मको नहीं मानता और कभी तो मैं यह चाहता हूं कि सभी धर्मोंको समुद्रकी तहमें डुबो दिया जाय।"

—गाजी मुस्तफा कमाल पाशा।

३

तो किया क्या जाय ?

यदि धर्मोंका संशोधन या सुधार नहीं हो सकता तो फिर धर्मोंसे होने वाली हानिसे देश, समाज अथवा राष्ट्रको बचानेके लिये किया क्या जाय ? इस प्रश्नका सीधा और स्पष्ट उत्तर तो यह है कि धर्मका पूरा बहिष्कार किया जाय। उत्तरके सीधा और स्पष्ट होते हुये भी उसको समझानेके लिये कुछ लिखना आवश्यक है। धर्मके सम्बन्धमें आज जो समस्या हम भारतीयोंके सामने उपस्थित है, वही समस्या कहीं अधिक विकट रूपमें दूसरे देशवासियोंके सामने भी उपस्थित हो चुकी है। आइये ! देखें, वे लोग उस समस्याको हल करनेमें किस प्रकार सफल हुये हैं।

भारतमें धर्मका जो प्रपंच, पाखण्ड किंवा आडम्बर इस समय फैला हुआ है, उससे कहीं अधिक कभी युरोपमें फैला हुआ था। रोमके पोपकी गद्दी भारतके शङ्कराचार्यके मठों तथा अन्य धर्माधिकारियों, महन्तों और पुजारियोंकी गद्दियोंसे भी कहीं अधिक शक्तिसम्पन्न थी। युरोपके सभी देशोंके राजाओंपर रोमके पोपका दबदबा था और जनता तो उसके हाथकी पूरी तरह काठपुतली बनी हुई थी। बाईबिलके सामने न सचाई टिक सकती थी, न विज्ञान ठहर सकता था और न विवेक-बुद्धिसे

ही कुछ काम लिया जा सकता था। यदि किसीने अपनी विवेक-बुद्धिसे काम लेकर कभी कुछ कहनेका साहस किया भी, तो उसकी इतनी दुर्गति की गई कि मानो उसने कोई बहुत बड़ा नैतिक पाप किया है। गैलेलियोने जब पृथ्वीके गोल होने और सूर्यके चारों ओर पृथ्वीके घूमनेकी बात कही थी तब बाईबिलके ठेकेदार विज्ञानकी इस सचाईको सहन नहीं कर सके थे। उसको पोपके सामने लाया गया था और उससे कहा गया था कि वह उस सचाईको वापिस ले। वह उसके लिये तय्यार भी हुआ, किन्तु हृदयकी सचाई और विज्ञान द्वारा अपने परों तले अनुभव होने वाली स्पष्ट बातको दबाना अशक्य था। उसके लिये उसको तीन वर्षकी सजा भोगनी पड़ी। कोलम्बसने अमेरिकाके अस्तित्वके सम्बन्धमें जब कहना शुरू किया था, तब उसकी बातपर केवल इसलिये विश्वास नहीं किया गया था कि बाईबिल द्वारा उसकी बातका समर्थन नहीं होता था। विज्ञान और धर्मकी यह लड़ाई युरोपमें बहुत समय तक होती रही, किन्तु अन्तमें विज्ञानने धर्म पर विजय प्राप्त की। आज युरोपमें विज्ञानका साम्राज्य है और धर्म केवल अजायब घरकी वस्तु रह गया है। धर्मके विरुद्ध विज्ञानका विद्रोह इतना सफल हुआ है कि रोमका पोप इंगलैण्डके बादशाहके समान नाममात्रका रह गया है, उसका अब न वह दबदबा है और न बोलबाला ही। धर्म-विद्रोही लूथरने पोपकी सत्तापर जो चोट की है, उससे धर्मकी सत्ता एक प्रकारसे युरोपमेंसे बिलकुल उठ ही गई है। ऐसा

प्रतीत होता है कि युरोपके ईसाई लोगोंने बाईबिल और धर्मको सदाके लिये तलाक देकर केवल विज्ञानको अपना लिया है। मानो उन्होंने धर्मको अपने यहांसे बहिष्कृत करके एशिया, अफ्रीका आदिके अशिक्षित, असभ्य एवं मूढ़ लोगोंको शिक्षित, सभ्य एवं विज्ञ बनानेके नामसे पादरियोंके साथ उसको इन देशोंमें भेज दिया है।

न केवल विज्ञान एवं सचाईकी ही धर्मके साथ यह लड़ाई हुई है, किन्तु धर्मकी धर्मके साथ जो लड़ाई हुई है, उसका इतिहास भी अन्याय, अत्याचार और रुधिरमें सना हुआ है। इङ्गलैण्डमें प्रोटस्टेण्ट राजाओंके समयमें रोमन कैथोलिक लोगोंके प्रति जो ज्यादतियां की गई थीं उन्होंने धर्मको सदाके लिये कलङ्कित कर दिया है। अंगुलियोंमें तेलके भींगे कपड़े बांध कर उनको जिंदा जलाया गया था। जौन ऑफ आर्क सरीखी वीर नारी भी धर्मान्धताकी बलि चढ़ा दी गई थी। स्वदेशकी रक्षाके लिये तलवार हाथमें लेना उसका अपराध था। पर, वह बाईबिल द्वारा निषिद्ध था। इस निषिद्ध कर्मके लिये उसको भी आगमें जिंदा जला दिया गया था। कितने ही लोग इन अत्याचारोंसे तंग आकर अपनी मातृभूमिको सदाके लिये छोड़कर दूसरे देशोंको चले गये। युरोपके क्रूसेड (धर्मयुद्ध) क्या थे ? धर्मके नामसे रुधिरकी पिपासा पूरी करनेके साधन-मात्र थे। धर्मके नामसे सब पाप, अन्याय, अत्याचार, खून-खराबी और युद्ध करने वालोंको क्या मालूम था कि वे अपने ही हाथोंसे स्वयं धर्मका गला घोंट रहे

थे ? आज इससे कौन इनकार कर सकता है कि धर्मके नामसे किया गया अनाचार ही युरोपमें धर्मके सर्वनाशका कारण हुआ है ? युरोपकी पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्तरहवीं शताब्दीकी धर्मान्धताकी कहानी भारतकी धर्मान्धताकी कहानीसे भी कहीं अधिक गर्हित और पतित है। हिन्दू-धर्मके समान ईसाई-धर्मने भी स्त्रियोंको ही समस्त पापकी जड़ माना है, क्योंकि आदमको हौवाने ही निषिद्ध वृक्षका फल तोड़कर उसको खानेके लिये विवश किया था। इसीलिये स्त्रियोंके प्रति उपेक्षा अन्याय, अनाचार और पापाचारसे ईसाई-धर्मका इतिहास भरा हुआ है। संभवतः यही कारण है कि ईसाई-धर्म-प्रधान देशोंमें अपने अधिकारोंके लिये स्त्रियोंको बहुत गहरी लड़ाई लड़नी पड़ी है। इङ्गलैण्डमें स्त्रियोंके मताधिकारके लिये हुआ आन्दोलन इसकी स्पष्ट साक्षी है।

युरोपके महायुद्धसे युरोपियन राष्ट्रोंकी बहुत अधिक हानि हुई है, किन्तु लाभ भी कुछ कम नहीं हुआ। एकतन्त्र-शासन-पद्धतिको इस युद्धसे ऐसी घातक चोट लगी कि कितने ही राष्ट्रोंसे 'राजा' पतझड़का मौसममें वृक्षोंसे पत्तोंके समान झड़ गये। जर्मनीके कैसरके राजगद्दी छोड़नेके समयसे वह क्रम अबतक भी जारी है। जर्मनीके प्रायः साथ साथ ही रूस, टर्की, इटाली, पोर्तुगाल, आस्ट्रिया, लिथोनिया, अलबेनिया, जुगोस्लेविया, चेकोस्लेविका आदि राष्ट्रोंमें प्रजातन्त्र-वादके लिये जो राज-क्रान्तियां हुई हैं, उन सभीका जन्म महासमरके गर्भसे हुआ है।

इन राजक्रान्तियोंके आलावा जो दूसरा लाभ युरोपको इस महासमरसे मिला है वह है धार्मिक-क्रान्तिका। इस कालमें हुई धार्मिक क्रान्तिसे युरोपमें धर्मका तो ऐसा सर्वनाश हुआ है कि अब धर्म के नामपर लोगोंको लड़नेके लिये उभाड़ना या भड़काना एकदम असम्भव है। बाईबिलके नाम पर लोगोंको पशु नहीं बनाया जा सकता। ईसाइयोंने ईसाइयोंके ही विरुद्ध हथियार उठाकर गिर्जाघरोंपर भी गोलाबारी करनेमें संकोच नहीं किया। रोमके पापकी अपीलें, प्रार्थनायें और फतवे परास्त होते हुये व्यक्तिकी अन्तिम शक्तिके समान निर्जीव एवं निस्तेज साबित हुये। राजाओंकी सत्ताके समान ही धर्मकी सत्तापर भी महासमरने बड़ी भयंकर घातक चोट की है। रूस और टर्कीकी धर्म-क्रान्तिके सम्बन्धमें कुछ खोलकर लिखना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

रूस, टर्की और फ्रांस ऐसे राष्ट्र है, जिनकी राष्ट्रीयताका धर्मके साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। रूस और टर्कीने तो कानून द्वारा धर्मकी सब व्यवस्थाको ही एकदम पलट दिया है। अन्य ईसाई राष्ट्रोंके समान रूस भी महायुद्धसे पहिले ईसाई-राष्ट्र था। युद्धके बाद जैसे ही वहां जारशाहीकी समाप्ति हुई वैसे ही ईसाईयतका भी अन्त कर दिया गया। बाईबिल और उसकी सब व्यवस्थाका रूसमें ऐसा अन्त हुआ है, मानो वहां धर्मका यह सब आडम्बर कभी था ही नहीं। गिर्जाघरोंका अस्तित्व भी उठा दिया गया

है। ईसाई-पादरियोंकी हुकुमतकी छाया तक अब वहां देखनेको नहीं मिल सकती। ईसाईयतका इतना अन्त हो चुका है कि ईसाइयों द्वारा होने वाले शिक्षा-प्रचार सरीखे भले कार्य भी कानून द्वारा रोक दिये गये हैं। रोमके पोपके चंगुलसे रूसने पूर्णतया मुक्ति प्राप्तकर ली है। इस चहुंमुखी-धार्मिक-क्रान्ति किंवा धर्मके इस सर्वव्यापी बहिष्कारसे एक बार तो युरोपके सभी ईसाई-राष्ट्र वैसे ही कांप उठे थे जैसे कि देवकीके पुत्र होनेकी बात सुनकर कंस कांप उठा था। केवल इसीलिये नहीं कि रूसमें साम्यवाद (वोल्शेविज्म किंवा कौम्यूनिज्म) के रूपमें एक महान् और प्रचण्ड शक्तिका जन्म हो रहा था, किन्तु इस-लिये कि सदियोंसे वंशपरम्परागत धार्मिक विचारों पर रूसने हड़ताल फेर दी थी। संसारकी आंखोंमें रूसको गिरानेकी चेष्टा करनेका भयानक षड़यन्त्र रचा गया। उसके विरुद्ध मनमाना साहित्य लिखा गया। उसके सम्बन्धमें बेसिर-पैरकी अनाप-शनाप गप्पें उड़ाई गईं। उसके नैतिक-जीवनके गर्हितसे गर्हित चित्र खींचे गये। उसकी नवीन विवाह-व्यवस्थाका मजाक किया गया। जनताकी गरीबीकी बेहूदासे बेहूदा काल्पनिक कथाय गढ़ी गईं। पर, सचाई सब विघ्न-बाधा एवं विरोधकी उन घनघोर घटाओंको चीर कर शरत्की पूर्णिमाके चन्द्रके समान अपने पूरे तेजके साथ प्रगट हुई। संसारकी कोई भी शक्ति सचाईको ढांप नहीं सकती। वह तो पृथ्वीका पेट फाड़ कर, पहाड़की चोटी लांघ कर और तूफानकी घनी घटासे भी पार होकर प्रगट

होती है। रूसमें भी ऐसा ही हुआ। संसारने आश्चर्यके साथ देखा कि जिस धर्मको सब प्रकारकी सद्गतिका साधन माना जाता था और जिसका त्याग करने पर पतनके गहरे गढ़ेमें गिरना निश्चित समझा जाता था, उसका सम्पूर्ण बहिष्कार करनेके बाद भी रूसका अधःपतन नहीं हुआ, अपितु वह एक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र बन गया और सामाजिक, आर्थिक आदि सभी दृष्टियोंसे वह उन्नतिके शिखर पर बड़ी तेजीके साथ चढ़ता चला गया। रूसका यह परीक्षण धर्म परसे लोगोंकी श्रद्धा दूर करनेमें बहुत सफल हुआ है। इसीसे धर्मजीवी लोगोंकी आंखोंमें रूस कांटेकी तरह चुभने लगा है। धर्मियों तथा पूंजि-पतियोंकी सत्तासे अपनेको बचानेके लिये गरीबोंमें जिस आशा, उत्साह एवं आकांक्षाका संचार वर्तमान रूसने किया है, उसी आशा, उत्साह एवं आकांक्षाका संचार धर्मध्वजी लोगों द्वारा त्रस्त जनतामें भी रूस द्वारा हुआ है। साम्राज्यवादियोंके समान ही धर्मजीवी लोग भी रूसकी बढ़ती हुई शक्तिको फूटी आंखोंसे भी नहीं देख सकते। रूसके इस सफल परीक्षण द्वारा यह भी साबित हो चुका है कि धर्मराष्ट्रकी उन्नतिमें एक ऐसी रुकावट है कि उसको दूर किये बिना उसका प्रगतिके मार्गपर अग्रसर होना सम्भव नहीं है। इस धार्मिक क्रान्तिसे पहिले रूसकी क्या दीन-हीन दशा थी ? निस्सन्देह, राजनीतिक क्रान्ति भी उस दशाको बदलनेमें विशेष रूपसे कारण हुई है, किन्तु राजनीतिक क्रान्ति इस रूपमें कदापि सफल नहीं हो सकती थी, यदि उसके साथ ही

साथ रूसमें धार्मिक-क्रान्ति न हुई होती। धर्मके पूर्ण बहिष्कार-से रूसकी काया सहजमें पलट गई है।

हम भारतीयोंके लिये रूसकी अपेक्षा टर्कीकी क्रान्तिका इतिहास अधिक विचारणीय एवं अनुकरणीय है। एक तो टर्कीमें धर्मका भारतके समान ही आडम्बर फैला हुआ था। धर्मान्धताकी दृष्टिसे वह वैसा ही पिछड़ा हुआ था। दूसरे टर्कीपर जिस मुसलमानी धर्म (ईस्लाम) की छाप लगी हुई थी, वह उन धर्मोंमेंसे है जो प्रायः समस्त पूर्वीय देशोंकी प्रगतिमें बाधक बने हुये हैं। उस समयका टर्की तो ईस्लामकी गद्दी बना हुआ था। टर्कीका बादशाह ईस्लाम धर्मका गुरु एवं व्यवस्थापक (खलीफा) माना जाता था। इस धर्म-गुरुके युगमें टर्कीकी क्या अवस्था थी ? राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी दृष्टि-योंसे टर्कीकी दशा दीन-हीन बनी हुई थी। युरोपके राष्ट्र उसको युरोपके लिये कलंक समझते थे और उस कलंकको मिटानेके लिये भीतर ही भीतर षड्यन्त्र रचा करते थे। युरोपकी इस कालिमाको दूर करनेके लिये युरोपियन राष्ट्रोंने कई बार टर्कीको निगल जानेके मनसूबे बांधे थे। यदि युरोपका महासमर इस रूपमें न हुआ होता तो निश्चय ही टर्कीका अस्तित्व युरोपमेंसे मिट गया होता। युरोपकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें टर्कीके लिये कुछ भी स्थान नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय परिषदोंमें टर्कीके प्रतिनिधि दूसरे राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंकी बराबरीमें नहीं बैठ सकते थे। विदेशोंमें उसके राजदूत तक प्रायः दूसरे राष्ट्रोंके लोग होते

थे। जैसे कि टर्कीमें योग्य व्यक्तियोंका सर्वथा अभाव ही था। यूनान सरीखा छोटा-सा राष्ट्र भी सदा ही उसकी गर्दन पर दुश्मनके समान बना रहता था। रूसने कितनी ही बार उसको हजम करना चाहा। इटली भी उसकी ओर दाँत निकाल कर ताकता रहता था। इसी छीना-झपटीमें ट्रिपोली आदि कितने ही प्रदेश सदाके लिये उससे छिन गये। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से टर्की एक अत्यन्त निर्बल, निस्तेज और पददलित राष्ट्र बना हुआ था। स्वाधीन होने पर भी किसी पराधीन राष्ट्रसे कम हीन अवस्था उसकी नहीं थी। आम जनता तो एक प्रकारसे गुलामी-का ही जीवन बिता रही थी।

उस समयकी सामाजिक अवस्था पर विचार करनेसे उस गुलामीके जीवनका स्पष्ट परिचय मिलता है। जनताके भाग्योंकी पोटली मुल्ला-मौलवी और फकीर अपने हाथोंमें लिये घूमते थे। उनका एक-तन्त्र राज्य टर्कीमें छाया हुआ था। परदा, तलाक, बहुविवाहके साथ साथ हरम (अन्तःपुर) की जघन्य प्रथाके कारण टर्कीकी स्त्रियोंको भारतकी स्त्रियोंके समान ही यावज्जीवन नारकीय जीवन बिताना पड़ता था। पुरुषोंकी दासीसे अधिक उनकी कुछ भी हैसियत नहीं थी। गृहस्थका नाम-मात्र सुख भी एकमात्र पुरुषोंकी स्वेच्छा पर निर्भर करता था। पुरुषोंके भोग-विलास की वे साधनमात्र समझी जाती थीं। कामकलाके साधनकी मशीनसे अधिक उनकी कुछ भी कीमत नहीं थी। पुरुष चाहे जितने विवाह करे, उसके लिये न कोई धार्मिक रुकावट थी और न कोई

कानूनी प्रतिबन्ध ही था। फिर जिस दिन भी उसकी इच्छा जिस किसी स्त्रीको भी तलाक देनेकी होती, उसी दिन उसको वह तलाक दे सकता था। राजघरानोंके अन्तःपुर (हरम) तो व्यभिचार-लीलाके खुले क्रीड़ाक्षेत्र बने हुये थे। वैसे भी देशका समस्त वातावरण ही व्यभिचारको उत्तेजना देकर मनुष्यको पशु बनाने वाला था, किन्तु सुलतानका हरम (अन्तःपुर) तो नैतिक पापका सबसे बड़ा गढ़ था। उसके लिये व्यभिचार-योग्य लड़कियोंको जहां तहांसे खरीद कर लाया जाता था। यह नैतिक-पतन इस चरमसीमाको पहुंच चुका था कि इस कारबारके लिये माता-पिता अपनी सन्तानको बचपनसे ही तय्यार किया करते थे। टर्कीमें धर्मके पतनकी इससे अधिक बढ़िया दूसरी साक्षी क्या मिल सकती है कि जो व्यक्ति धर्म-गुरु माना जाता हो अथवा धर्मकी दृष्टिसे जिसका न केवल टर्कीमें किन्तु समस्त इस्लाम-जगत्में सबसे अधिक ऊंचा पद हो, उसके लिये स्त्रियोंके क्रय-विक्रयका वह व्यापार हो, जिसको संसारमें सबसे अधिक नीच समझा जाता है। सुलतानके अन्तःपुरकी उससे भी अधिक जघन्य प्रथा थी, बच्चोंकी निर्मम-हत्या। धर्मके नाम पर यह सब होता था और धर्मके आधार पर बना हुआ कानून उस सबको सहन करता था। भारतके मन्दिरोंकी देवदासियोंके समान ही खलीफाके अन्तः पुरमें राजदासियोंकी सेनाकी सेना सदा ही बनी रहती थी। अब्दुल हमीदके हरममें आठ सौ तो रसोइये ही थे। इससे स्त्रियों तथा दासियोंकी संख्या और उनपर होने वाले

खर्चका अनुमान किया जा सकता है। राजघरानेकी इस नियमित, व्यवस्थित और धर्मानुमोदित व्यभिचार-लीला पर राष्ट्रकी आमदनीका एक बड़ा हिस्सा प्रतिवर्ष व्यय किया जाता था। जनताकी शिक्षा एवं स्वास्थ्य आदिके खर्चकी अपेक्षा भी यह खर्च कहीं अधिक था। जब राजाकी यह अवस्था थी, तब प्रजाकी अवस्थाका अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है।

इस धर्मान्धताके ही कारण स्त्रियोंका बीमार होना उनका सबसे बड़ा दुर्भाग्य था। किस्मतसे कोई बच गई तो बच गई, नहीं तो बीमारीके विस्तरपर एक बार लेटनेके बाद उससे छुटकारा पाना संभव नहीं था। डाक्टर, वैद्य या हकीम उसको देख नहीं सकते थे। जन्त्र-मन्त्र या झाड़-फूंक करने वाली बूढ़ी स्त्रियां ही उनके भाग्यका निपटारा किया करती थीं। स्त्रीकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा, पृथक् व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य था ही नहीं।

आमोद-प्रमोद, खेल-कूद, साहित्य, चित्रकला आदि सभीको धर्मरुपी राहुने ग्रसा हुआ था। वैसे तो व्यभिचार-लीला पर कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं था, किन्तु आमोद-प्रमोदके प्रधान साधन नाटक, सिनेमा, नाच आदि सार्वजनिक-रूपमें निषिद्ध थे। तुर्की महिलायें तो नाटकोंमें हिस्सा बटा नहीं सकतीं थीं, इसलिये आर्मीनियन स्त्रियां नाटकोंमें उनके अभावकी पूर्ति किया करती थीं। इससे नाटकोंकी स्वाभाविकता बिलकुल नष्ट हो जाती थी। खेल-कूदमें फुटबालका खेल तक इसलिये धर्म द्वारा निषिद्ध

था कि उसकी आकृति मनुष्यके सिरके समान होती है। टर्कीमें ऐसे सभी खेल वर्जित थे, जिसमें मनुष्यकी आकृति किंवा चित्रका उपयोग किया जाता था। दूसरी भाषाओंसे तुर्की भाषामें पुस्तकोंका अनुवाद नहीं किया जा सकता था। चित्र-कला तो इसी लिये निषिद्ध थी कि मनुष्य आदिका चित्र बनानेसे खुदाके एकाधिकार पर हमला होता था। कुरान-शरीफका अनुवाद तक तुर्की-भाषामें नहीं होने दिया गया, जिससे कि उसके धर्मकी असलियतका लोगोंको पता न लग जाय। ऐसी अवस्थामें विचार-शील लोग टर्कीमें कैसे रह सकते थे? कुछ लोगोंको तो राज्यकी ओरसे ही देश-निकालेकी सजा दी गई थी और कुछ लोग स्वयं ही टर्कीको छोड़ कर दूसरे देशोंमें भाग गये थे। कितने ही स्त्री-पुरुषोंने आंसू बहाते हुये अपनी प्रिय जन्म-भूमिको उस सन्ताप को अनुभव करते हुये छोड़ा था, जिसको कि गरीब किसान साहूकारका कर्ज न चुका सकने पर अपने बाप-दादाओंसे बपौतीके रूपमें मिले हुये जीवनके एकमात्र-साधन जमीनके टुकड़ेको छोड़ने पर अनुभव किया करता है।

युरोपके अनेक राष्ट्रोंको महासमरसे जो लाभ मिला है उसको टर्कीने पूर्ण रूपमें प्राप्त किया है। गाजी मुस्तफा कमाल पाशाके रूपमें टर्कीमें जो चहुंमुखी धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति हुई है उसने टर्कीके समस्त रूपको ही एकदम बदल दिया है। टर्कीके सुलतान या बादशाहको खलीफाका जो पद प्राप्त था, उससे टर्कीकी एक साम्राज्यके समान ही प्रतिष्ठा

थी और उसके बादशाहकी संसारके इने-गिने महापुरुषोंमें गणना की जाती थी। पर, इस प्रतिष्ठाकी कीमत मनुष्यके प्राण-रहित शरीरसे कुछ अधिक नहीं थी। टर्की स्वयं तो गुलामीमें पड़ा ही हुआ था, दूसरे राष्ट्रोंको भी धार्मिक गुलामीमें फंसा रखनेका कलङ्क उसके माथेपर लगा हुआ था। टर्कीने उस गुलामीको दूर करने और उस कलङ्कको धोनेमें युरोपके कई राज्योंके समान उस कमजोरीका परिचय नहीं दिया, जिससे कि वे अभी तक बादशाहके अस्तित्वको मिटानेमें समर्थ नहीं हुये हैं और न युरोपके ईसाई राष्ट्रोंके समान उस कायरतासे ही काम लिया, जिसका स्पष्ट परिचय आजतक रोमके पोपके अस्तित्वसे मिलता है। टर्कीने इस सम्बन्धमें अपूर्व साहस और अलौलिक धैर्यका परिचय दिया है। धर्मके नामसे सदियोंसे प्रचलित रीति-रिवाजों और रुढ़ियोंका त्याग करनेमें उसने तनिक भी संकोच नहीं किया। यहां तक कि खिलाफतको उठानेमें भी आगा-पीछा नहीं किया गया। यह परिवर्तन क्या है ? सांपके समान पुरानी कांचली उतार कर टर्कीने नया ही रूप धारण कर लिया है। धर्मके पूर्ण वहिष्कारसे टर्कीमें सतयुग प्रगट हो गया है। जिस धर्मके बहिष्कारसे धर्मध्वजियोंके विश्वासके अनुसार टर्की रसातलमें मिल जाना चाहिये था, उससे वह उन्नतिके शिखर पर जा पहुंचा है। किसीकी शक्ति नहीं कि अब टर्कीको युरोपका कलङ्क बता सके और उसको हजम करनेकी बात कह सके। युरोपको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें टर्कीकी उपेक्षा नहीं की जा

सकती। उसके प्रतिनिधि दूसरे राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंकी बराबरीमें बैठनेका पूरा अधिकार रखते हैं। उसके राजदूतोंकी विदेशोंमें अब विशेष प्रतिष्ठा है। कोई भी राष्ट्र अब उसकी ओर आंखें उठा कर देख नहीं सकता। परदा, तलाक, बहुविवाह और इस सरीखी कुप्रथायें और उन कुप्रथाओंसे पैदा होनेवाले समस्त पापकी गंदगी इस तरह नष्ट हुई है जैसे दावानल सब जंगलको भस्म कर डालता है। स्त्रियां नारकीय जीवनकी समस्त आपदाओंसे छुटकारा पा चुकी हैं। अब वे सब क्षेत्रोंमें पुरुषोंकी बराबरीमें खड़ा होनेका अधिकार और अवसर रखती हैं। विदेशोंमें राजदूतों तक का काम वे कर रही हैं। स्वदेशमें भी ऐसा कोई काम नहीं, जिसमें उन्होंने प्रधानता प्राप्त न की हो। उनमें अच्छीसे अच्छी लेखिका, सम्पादिका, अध्यापिका और डाक्टर आजकल पाई जाती हैं। नाट्यकला, चित्रकला और व्यायाम में भी उन्होंने नाम पैदा किया है। सारांश यह है कि तुर्की महिलाकी गुलामीके समस्त बन्धन काट दिये गये हैं और उसको पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो गई है। स्त्रियोंको स्वाधीनता देनेसे भय खानेवालोंको टर्कीकी महिलाओंकी स्वाधीनताकी कहानी विशेष ध्यानसे पढ़नी चाहिये। एक तो टर्कीकी महिलाओंको इङ्गलैण्डकी महिलाओंके समान अपने अधिकारोंकी प्राप्तिके लिये संघर्ष नहीं करना पड़ा, दूसरे उन्होंने प्राप्त स्वतन्त्रताका तनिक भी दुरुपयोग नहीं किया। इस स्वतन्त्रताको प्राप्त करनेके बाद भी तुर्की महिलाने आदर्श माता बननेमें ही अपने जीवनको सार्थक

समझा हैं। राष्ट्रीय सेवाके मैदानमें उसने अपने उपयुक्त सेवाका कार्य ही अपने जिम्मे लिया है। शिक्षा, स्वास्थ्य, शिशु-संगोपन और चरित्र-निर्माणके क्षेत्रोंमें उसने आदर्श कार्य कर दिखाया है। स्त्रियोंकी स्वाधीनता पर किये जानेवाले आक्षेपोंका तुर्की महिलाओंने सक्रिय उत्तर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि धर्मके बंधनसे पूर्ण मुक्ति पा लेनेपर ही स्त्री अपने शील, मर्यादा और सतीत्वकी रक्षा कर सकती है। स्त्रियोंकी इस स्वाधीनता का टर्कीको सबसे बड़ा लाभ तो यह मिला है कि उसके सार्वजनिक चरित्रका दर्जा बहुत ऊंचा हो गया है। व्यभिचार-लीलाका टर्कीमें एक प्रकारसे अन्त ही हो गया है। नाना प्रकारकी बीमारियोंसे भी टर्कीका शरीर प्रायः नीरोग हो चुका है। आमोद-प्रमोद, खेल-कूद आदि परसे धर्मकी कैद बिलकुल उठ चुकी है। फुटबालके खेलके मैदानोंमें टर्की दूसरे देशोंका मुकाबला करने लगा है। तुर्की-भाषाका साहित्य भी अब उन्नति पर है। गाजी मुस्तफा कमाल पाशाकी मूर्तियां कई शहरोंमें केवल इस लिये बिठाई गई हैं कि चित्रकलाको उत्तेजन मिले और यह स्पष्ट हो जाय कि राष्ट्रीय प्रगतिमें धर्मकी बाधा सहन नहीं की जा सकती। स्कूलोंमें लड़के-लड़की एक साथ बैठकर शिक्षा प्राप्त करते हैं। सर्वसाधारणका वेशभूषा तक बदल गया है। 'फेज' (तुर्की टोपी) जिसको भारतके मुसलमान हिन्दुओंके जनेऊ तथा चोटी-की तरह अपनाये हुये हैं, टर्कीमेंसे बिलकुल उठा दी गई है। मसजिदोंमें नमाज न पढ़ी जाकर शिक्षा-प्रकारका कार्य होता है

और अंगोराकी स्वतन्त्रताकी कहानी पर व्याख्यान होते हैं। यह सब धर्मके बहिष्कारकी महिमा है। राष्ट्रीय दृष्टिसे टर्कोंका अब कोई भी धर्म नहीं है। इस्लामका टर्कोंने इतना बहिष्कार किया है कि मुल्ला-मौलवी और फकीरोंकी भी रजिस्ट्री की जाती है। राज्य द्वारा नियत प्रचारके अलावा वे कुछ भी कार्य नहीं कर सकते। राज्यकी ओरसे इस बातकी उनपर पूरी निगरानी रखी जाती है। जुम्मा या शुक्रवारको छुट्टी भी उठा दी गई है। मुसलमानी कलेण्डरका भी त्याग कर दिया गया है। न केवल इस्लामके प्रति ही नवीन टर्कोंका ऐसा रुख है किन्तु ईसाइयतके प्रति भी बड़ी कड़ी नजर है। ईसाई किसी भी रूपमें टर्कोंमें ईसाइयतका प्रचार नहीं कर सकते। उनकी शिक्षामें यदि कहीं इसकी गन्ध भी आ जाय तो तुरन्त उन द्वारा संचालित विद्यालय बन्द कर दिये जाते हैं। धर्मके सम्बन्धमें वर्तमान टर्कोंके विधाता गाजी मुस्तफा कमाल पाशाका यह कहना है कि "मैं किसी भी धर्मको नहीं मानता और कभी तो मैं यह चाहता हूं कि सभी धर्मोंको समुद्रकी तहमें डुबो दिया जाय।" उनका यह भी कहना है कि "जो शासक धर्मके आधारपर अपना शासन कायम रखना चाहता है, वह निर्बल शासक है। यह ऐसा ही है जैसे कोई लोगोंको किसी जालमें फंसाये रखना चाहता है।" वस्तुतः कमाल पाशाने जनताको धर्मके उस जालसे पूर्णतया मुक्त कर दिया है जिसमें सुलतानने उसको फंसाया हुआ था और टर्कोंने सभी धर्मोंको समुद्रकी तहमें उनको फिर कभी

न अपनानेके लिये ही डुबो दिया है। वर्तमान टर्कीने भी उस सचाईको पुष्ट कर दिया है, जिसकी स्थापना रूसने की है। वह सचाई यह है कि राष्ट्रकी प्रगतिके लिये धर्मका पूर्ण बहिष्कार पहली शर्त है।*

इसमें सन्देह नहीं कि गाजी द्वारा किये गये धर्मके पूर्ण बहिष्कारसे सभी ईस्लामी देशोंमें एक बार तो भयानक कंपकंपी पैदा हो गयी थी। वे बड़े विस्मयके साथ टर्कीकी प्रगतिकी गतिको देख रहे थे। उनके लिये यह समझना और जानना कठिन था कि धर्म-विरोधी इस प्रगतिका अन्त कहां होगा ? सबसे अधिक आश्चर्यकी बात तो यह है टर्कीमें धर्म-बहिष्कारकी इस क्रान्तिका विरोध 'नहीं' के ही समान हुआ है। मुल्ला-मौलवी और फकीर भीगी बिल्लीकी तरह दुबक कर बैठे रहे और गाजी किंवा राष्ट्र-सभा द्वारा निकाले जानेवाले धर्म-विरोधी फरमानोंके सामने कैदीके समान सिर झुकाते चले गये। जनताने धर्मके बहिष्कारका वैसा ही स्वागत किया, जैसे कि चहचहाते हुये पक्षी उषा कालका स्वागत करते हैं। मानो जनता धर्मकी गुलामीसे छुटकारा पानेके लिये एक कदम पर बिलकुल तय्यार खड़ी थी। जनताकी मूढ़ धार्मिक भावनाके विरोधसे किसी

---

* इसी जेल-प्रवासमें टर्कीके सम्बन्धमें भी लेखकने एक पुस्तक लिखी है। वह भी शीघ्र ही प्रकाशित की जायगी। टर्कीकी इस चहुंमुखी क्रान्ति के सम्बन्धमें अधिक जाननेकी इच्छा रखने वालोंको वह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये।

भयानक विद्रोहके खड़े होनेकी आशंका करने वाले टर्कीकी इस क्रान्तिका इतिहास बिलकुल भूल जाते हैं। भारतमें मुसलमानी जनता कितनी भी कट्टर, धर्मान्ध और हठी क्यों न देख पड़ती हो, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि टर्कीकी इस क्रान्तिने उसके दिमागमें भी कुछ खलल एवं द्विविधा पैदा कर दी है। अन्य ईस्लामी देशोंमें तो आशाका इतना संचार हुआ है कि वे भी अपने देशमें किसी कमाल पाशाके प्रगट होनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अफगानिस्तानमें वीरवर अमानुल्लाह शाहके प्रयत्नोंका असफल होना पूर्वीय देशोंका एक बड़ा दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। यदि कहीं उनका प्रयत्न सफल हो जाता तो इसमें शङ्काके लिये तनिक भी गुंजाइश नहीं कि टर्कीसे लेकर अफगानिस्तान तकका सब चित्र ही एकदम बदल गया होता। चित्रपटके इस महान् परिवर्तनसे भारतमें भी आशाकी ऐसी वेगवती लहरका संचार हो जाता कि उसके सामने सिर उठाने वाली धर्मकी समस्त शक्तियां काफूर हो जातीं। फिर भी निराशाका कोई कारण नहीं। वीरवर अमानुल्लाह शाह द्वारा बखेरे गये क्रान्तिके बीजों पर कितनी भी मिट्टी क्यों न डाल दी गई हो, पर उनके अङ्कुर फूटे बिना नहीं रहेंगे। ये क्रान्तिके वे बीज है, जो कि बरसातका अनुकूल मौसम पाते ही ज्वालामुखीकी लपटके समान कड़ीसे कड़ी भूमिका भी पेट फाड़ कर प्रगट होते हैं। उनको नष्ट करनेकी आशा रखना वैसा ही है, जैसे कोई आगकी धधकती चिनगारियोंको रूईके ढेरमें दबाकर

बुझानेकी आशा रखता हो। इसलिये यह विश्वास रखना चाहिये कि टर्कीको काया पलटने वाली क्रान्तिकी भयंकर अग्नि अफगानिस्तानमें भी अवश्य प्रगट होगी और टर्कीसे अफगानिस्तान तकके समस्त प्रदेशका चित्र ही एकदम पलट जायगा। यह प्रायः निश्चित है कि ईस्लामकी कट्टरता, धर्मान्धता और हठवाद अब संसारमें चिरस्थायी नहीं रह सकता। उस पर वह घातक चोट हो चुकी है जिसका परिणाम आंखोंके सामने आनेमें अधिक समय नहीं लगेगा। फिर भारतमेंसे भी धर्मान्धता, साम्प्रदायिक-कट्टरता एवं मजहबीपागलपनके मिटनेमें अधिक समय नहीं लगेगा। देखें, सुवर्णाक्षरोंमें लिखा जाने योग्य वह दिन कब प्रगट होता है ? अस्तु।

रूस और टर्कीके समान ही जापान और चीनने भी धर्मके अस्तित्वको मिटा कर राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त करनेका महान् यशस्वी कार्य किया है। जापान कितना छोटा राष्ट्र है, पर जारके रूसको पछाड़कर वह अपनी अजेय शक्तिकी धाक दुनियामें बिठा चुका है। उसकी इस शक्तिका रहस्य क्या है ? उस रहस्यको प्रगट करनेके लिये जापानके सम्बन्धकी दो दन्त-कथायें नीचे दी जाती हैं। ये दन्त-कथायें भले ही इतिहासानुमोदित न हों, पर जापानकी धर्मके प्रति जो भावना है उसका परिचय इन से अवश्य मिल जाता है। एक बारकी घटना है कि कोई अमेरिकन प्रोफेसर जापानके एक विद्यालयमें गया। वहां उसने एक बालकसे पूछा कि तुम्हारा धर्मगुरु कौन है ? बालकने गौतम बुद्धका नाम

लिया। फिर उससे पूछा गया कि तुम किसको सबसे बड़ा देवता मानते हो ? उसने कानफूशसका नाम लिया। प्रोफेसरने कहा कि यदि कोई इन दोनोंकी निंदा करे तो तुम क्या करोगे ? उसने कहा कि निंदा करने वालेका गला उतार दिया जायगा। प्रोफेसरने फिर पूछा कि यदि किसी ऐसे देशकी सेना जापान पर आक्रमण करे जिसका बादशाह गौतम बुद्ध हो और उस सेनाका सेनापति कानफूशस हो तो तुम क्या करोगे ? बालकने बिना झेंपे हुये तुरन्त उत्तर दिया कि ऐसा होने पर उन दोनोंके सिर धड़से अलग कर दिये जायंगे, किन्तु देशको किसी भी अवस्थामें पराधीन या गुलाम नहीं होने दिया जायगा। इस कथाका यह स्पष्ट आशय है कि धर्म-प्रेमने जापानके लोगोंको इतना मतिमंद नहीं बना दिया कि उन्होंने देश-प्रेम किंवा राष्ट्र-प्रेमको सर्वथा तिलांजलि ही दे डाली हो। धर्मकी तुलनामें देश अथवा राष्ट्रका स्थान ऊंचा है। धर्मकी अवहेलना सहन की जा सकती है, किन्तु राष्ट्रका अपमान सहन नहीं किया जासकता। जापानके स्त्री-पुरुषोंके लिये राष्ट्र-प्रेम सर्वतोपरि है। राष्ट्रवाद किंवा राष्ट्रधर्मके लिये वे अपने सर्वस्वकी बाजी लगा सकते हैं। तभी तो रूस सरीखे राष्ट्रको परास्त करनेमें जापान सफल हो सका था। इसी प्रकारकी दूसरी घटना यह है कि जापानके सामने लड़ाईका सामान तय्यार करनेकी एक बार बड़ी विकट समस्या उपस्थित हुई। दूसरे देशोंसे उसको प्राप्त करना कठिन था। धर्म-मन्दिरों सरीखे स्थानोंमें रखी हुई बुद्धकी ताम्बा पीतल आदि धातुओंकी बनी हुई

बड़ी बड़ी विशाल मूर्तियोंको पिघला कर लड़ाईका सामान तय्यार करनेके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं था। राजनीतिज्ञों और धर्माधिकारियोंकी एक परिषद् हुई। सोचा गया कि यदि देशकी स्वाधीनता बनी रही तो बुद्धकी मूर्तियां कितनी ही बन जायंगी और उनकी रक्षा भी हो सकेगी। यदि कहीं देशकी स्वाधीनतासे ही हाथ धोना पड़ा तो इन मूर्तियोंका क्या होगा? हो सकता है कि देशको पराधीन बनाने वाले मूर्तियोंसे भी अपना मतलब पूरा करें। बस, निर्णय हो गया कि मूर्तियां पिघला कर लड़ाईका सामान तय्यार किया जाय। वैसा ही किया भी गया। इस प्रकार जापानवासियोंने धर्मके लिये कभी भी देशकी उपेक्षा नहीं की। जापानका धर्म राष्ट्रके लिये है, राष्ट्र धर्मके लिये नहीं। धर्मको सदा ही देश-रक्षाका साधन बनाया गया है। राष्ट्र और धर्ममें विरोध होनेपर धर्मकी भले ही हानि हो गई हो, किन्तु राष्ट्रकी हानि नहीं होने दी गई। जापानसे यदि हम इतनी भी शिक्षा ग्रहण कर सकें तो बहुत है।

चीन एक उठता हुआ राष्ट्र है। उसमें राष्ट्रीयताका विकास अभी पूर्णरूपमें नहीं हुआ है। फिर भी उसमें राष्ट्रीयताका प्रभात प्रगट हो चुका है। उसके प्रगट होनेमें धर्मके नामसे कभी कोई बाधा पैदा नहीं हुई। चीनमें धर्मका विचार या भावना सम्भवतः इतनी दृढ़ थी ही नहीं, जितनी टर्कीमें थी या भारतमें अब भी है। फिर भी धर्मके नाम पर देशमें कुछ बेहूदा और वाहयात रिवाज अवश्य प्रचलित थे। भारतके हिन्दू तो फिर भी कुछ छोटी

ही चोटी रखते हैं, किन्तु चीनी लोगोंकी चोटियां सिरके पीछे एड़ी तक पहुंचती थीं। स्त्रियोंके पैरोंको बचपनसे ही लोहेकी जूतियोंमें जकड़ कर यथासम्भव छोटेसे छोटा बनाकर रखा जाता था। उनकी खूबसूरती और सौभाग्यका यह प्रधान-चिन्ह माना जाता था। मनुष्यकी स्वार्थ-बुद्धि और स्त्रियोंको पराधीन बना रखनेको पुरुषकी क्रूरता, जघन्य एवं कुत्सित वृत्तिका वहां अन्त हो गया, जहां उसने स्त्रीके स्वाभाविक सौन्दर्य-प्रेमकी कमजोरीसे लाभ उठाते हुये उसके पैरोंकी शक्तिको ही बिलकुल क्षीण कर दिया। मानो उसको स्त्रीके अपने हाथसे निकल जानेका इतना भय था कि उसने उसको लंगड़ा और लूला बना कर सदाके लिये ही पराश्रित बना दिया था। भारतमें स्त्रीको परदेकी कैदमें डालकर घरमें ऐसी नजरबन्द रखनेकी व्यवस्था की गई थी कि उसको 'असूर्यम्पश्या' कह कर उसकी प्रतिष्ठाका वर्णन रामायण सरीखे ग्रन्थोंमें भी किया गया है। चीनमें परदेकी प्रथा न चल सकी, तो स्त्रीके पैरोंकी ही शक्तिको नष्ट कर दिया गया और वह भी उसके सौन्दर्यके नाम पर। इस ब्रह्माण्डकी अनन्त सृष्टिमें स्वच्छन्द विहार करने वाले कितने ही पशु-पक्षी और कीट-पतंग केवल अपने सौन्दर्यके कारण पकड़े जाते हैं। कोई तो पिंजरोंमें डाले जाकर मनुष्यके मकानोंकी शोभा बढ़ाते हैं और कोई चिड़ियाखानोंमें बंद किये जाकर उसके कौतुहलको पूरा करते हैं। स्त्रीको सौन्दर्यके लिये स्वाभाविक इच्छा उसकी पराधीनताका प्रधान कारण हुई है। चीनके स्वार्थी पुरुषोंने स्त्रियोंकी

इस इच्छासे बड़ा लाभ उठानेमें कुछ भी कसर बाकी नहीं रखी। इन बेहूदगियोंकी तरह ही चीनमें छाता लगाना भी वर्जित था। कहते हैं कि जिसने पहिले पहल छातेका उपयोग किया था, उस पर ईंट-पत्थरोंकी वर्षा करके उसका छाता ही तो तोड़ दिया गया था और उसकी प्राण-रक्षा बहुत कठिनतासे हो सकी थी। पर, इन और ऐसे सब वहमों तथा बेहूदगियोंको दूर करनेमें अधिक समय और श्रम नहीं लगा। उषाकालमें सूर्यकी किरणोंके प्रगट होते ही जैसे मोतियोंके समान प्रतीत होने वाले ओस-बिन्दु तुरन्त मिट जाते हैं, वैसे ही राष्ट्रीयताका प्रभात चीनमें क्या प्रगट हुआ? वे और वैसी सब बेहूदगियां तथा वहम तुरन्त मिट गये। चीनके लोगोंने जब जाना कि उनकी चोटियां धर्मका चिन्ह नहीं किन्तु किसी हिन्दू-राजा द्वारा परास्त किये जानेकी निशानी हैं तो एक ही दिनमें उनको सिरोंसे ऐसा अलग कर दिया गया जैसे टर्कोंने फैजको अपने सिर परसे उतार कर फेंक दिया है और स्त्रियोंको बचपनमें लोहेकी जूती पहिनानेकी प्रथा भी वैसे ही उठ गई जैसे टर्कोंमेंसे स्त्रियोंका बुर्का उठ गया है।

चीनमें राष्ट्रीयताके विकसित होनेमें धर्मकी अपेक्षा परिवार और परिवार-संघ कहीं अधिक बाधक सिद्ध हुये हैं। चीनमें परिवार-विशेष या संघ-विशेषके नाम पर ही लोगोंसे संगठित होनेके लिये सदा अपील की गई और उनको ही सब संगठनका आधार बनाया गया। हजारोंकी संख्यामें बिना विचारे ही लोगोंने परिवार-विशेषके लिये अपने जीवनकी आहुति दे दी और संघ-

विशेषके लिये सैकड़ों परिवारोंने भविष्यका विचार किये बिना ही अपना बलिदान कर दिया। जब कि संघ-विशेषोंमें परस्पर कोई झगड़ा उठ खड़ा हुआ तो वे जीवन तथा जायदादकी हानिका कुछ भी विचार न करते हुये आपसमें लड़ते चले गये और उस झगड़ेके लिये सर्वस्व तक न्यौछावर करनेमें भी तनिक संकोच नहीं किया। परन्तु राष्ट्रके लिये वैसे बलिदान या न्यौछावर करनेका उदाहरण चीनके इतिहासमें मिलना संभव नहीं है। वर्तमान चीनके निर्माता डा० सनयात सेनने सन-मिन सिद्धान्तका प्रचार करके स्वदेशमें राष्ट्रीयताकी नींव डाली और चीनके पारिवारिक-प्रेमको राष्ट्र-प्रेममें परिणत कर दिया। उनका सन-मिन-सिद्धान्त राष्ट्रवादका ही दूसरा नाम है। इस सिद्धान्त किंवा राष्ट्रवादको ही वे चीनको मुक्तिका एकमात्र साधन मानते थे। अपने एक व्याख्यानमें उन्होंने कहा था कि "इस राष्ट्रवादके द्वारा ही अपना राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोंकी बराबरीमें खड़ा हो सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय, स्वशासन-सम्बन्धी एवं आर्थिक आदि सभी दृष्टियोंसे हमारे राष्ट्रकी शक्ति बढ़ेगी, जिससे वह संसारमें चिरकाल तक जीवित रह सकेगा। यह राष्ट्रवाद हमारे राष्ट्रकी मुक्तिका मूलमन्त्र है। हमको राष्ट्रवादके सिद्धान्तमें विश्वास पैदा करना चाहिये। इस विश्वाससे हमारे राष्ट्रमें उस प्रचुर-शक्तिका आविर्भाव होगा, जिससे हमारा राष्ट्र निश्चय ही मुक्ति-लाभ करेगा।" सचमुच, चीन उस मुक्तिके प्राप्त करनेमें लीन है, जिसका स्वप्न डा० सनयात सेनने कभी अपने

जीवनमें देखा था। चीनमें राष्ट्रीयताके जिस बाल-भास्करका उदय हुआ है, उसकी किरणोंसे समस्त राष्ट्र चमक उठा है। नवीन शक्तिका उसमें ऐसा संचार हुआ है कि चीनको जो राष्ट्र अफीमची समझ कर निर्वीर्य एवं निस्तेज समझे हुये थे, वे उसकी इस नवीन शक्तिको देखकर आश्चर्य चकित रह गये हैं। टर्कीके समान चीनपर भी दूसरे राष्ट्रोंकी आंखें लगी हुई थीं। पर अब कौन चीनके साथ लोहा ले सकता है ? राष्ट्र-धर्मके पूर्णरूपमें विकसित होजानेके बाद चीन जितना शक्ति-सम्पन्न हो जायगा, उसकी कल्पना करना कुछ कठिन नहीं है। इस प्रकार चीनमें जिस नवयुगका प्रादुर्भाव हुआ है, उससे भी राष्ट्रवाद किंवा राष्ट्रधर्मकी महिमाको सहजमें समझा जा सकता है।

इतने प्रत्यक्ष और स्पष्ट इतिहासके बाद भी हम अपने कर्तव्यका निर्णय न कर सकें तो फिर हमारी मूर्खताकी पराकाष्ठा ही समझनी चाहिये। हम लोगोंको धर्म-प्राण, धर्म-भीरु, धर्मात्मा इत्यादि कहा जाता है और समझा जाता है कि हमारे आचार-विचार, रहन-सहन आदिमें धर्म मनुष्यके देहमें रुधिरकी तरह समाया हुआ है। इसलिये हम भारतीयोंके सम्बन्धमें धर्मके त्यागकी कल्पना तक करना कुछ कठिन-सी प्रतीत होती है। जिस प्रकार प्राणी अन्न-जलके बिना नहीं रह सकता, इसी प्रकार भारतीयोंके लिये धर्मके बिना रह सकना असम्भव जान पड़ता है। धर्मजीवी लोगोंने भारतीय-समाज विशेषतः हिन्दू-समाजको धर्मके जालमें कुछ ऐसा उलझाया है कि इस

गुत्थीका सुलझाना ही अशक्य देख पड़ता है। पैदा होनेके पहिले होसे अर्थात् गर्भाधानसे लेकर मृत्यु तक ही नहीं किन्तु उसके बाद भी मनुष्यके लिये जो व्यवस्था की गई है, उस सबपर धर्मका मुरादाबादी मुलम्मा (कलई) ऐसा चढ़ा दिया गया है कि दिमागसे काम लिये बिना ही मनुष्य उसमें अनायास फँसता चला जाता है, मानो यह उसके स्वभावका ही एक हिस्सा बन गया है। मनुष्यके खाने-पीने, सोने-बैठने, चलने-फिरने और हगने-मूतने तकके लिये जो व्यवस्था नियत की गई है, उसको भी 'धार्मिक' कहा जाता है। कहां तक कहा जाय, वेश-भूषा भी धर्मका अङ्ग बन गया है। मुसलमानोंकी 'फैज' (टोपी) के समान हिन्दुओंमें भी कितनी ही वेश-भूषाकी ऐसी बातें मिलती हैं जिनका समर्थन धर्मके नामपर किया जाता है। हरिद्वारका ऋषिकुल सनातनी-हिन्दुओंकी एक सुप्रतिष्ठित संस्था है, जिसमें विद्यार्थियों तकके वेश-भूषामें धर्मके नाम पर भेद-भाव रखा गया है। वहां ब्राह्मण-बालकके लिये पीली, क्षत्रिय-बालकके लिये लाल और वैश्य-बालकके लिये सफेद धोती पहिननेकी व्यवस्था है। इसी प्रकार उनके खान-पानमें भी भेद-भावका व्यवहार किया जाता है। बचपनसे ही उनके दिल और दिमागमें, आचार-और विचारमें धर्मका घातक विष फैला कर उनकी समस्त वृत्तियों और समस्त व्यवहारको धर्मके नाम पर कलुषित बना दिया जाता है। पहाड़ोंमें, जो मन्दिरों एवं धर्म-स्थानोंकी दृष्टिसे हिन्दू-धर्मके गढ़ हैं, धर्मके नामपर उच्च और नीच वर्णके लोगोंके

वेश-भूषामें इतना स्थिर अन्तर पैदा कर दिया गया है कि दो पहाड़ी टीलोंके समान दोनों वर्णोंके लोगोंको सदाके लिये ही अलग अलग कर दिया गया है। सारांश, भारतवासियोंके दिल और दिमाग पर धर्मकी बड़ी गहरी छाप लगी हुई है और धर्मकी वैसी ही पक्की छाप उनके आचार-विचार पर भी लगी हुई है। इसीलिये धर्मको मिटानेकी बात सुनते ही भारतके लोग वैसे ही कान फड़फड़ा कर खड़े हो जाते हैं, जैसे कि हिरणोंका झुण्ड किसी आपत्तिकी कल्पना करते ही सावधान होकर खड़ा हो जाता है। धर्मका मिटना उनको प्राणोंके जानेके समान जान पड़ता है। सदियोंके परम्परागत विचार, कल्पना और भावनाका एकाएक बदलना संभव नहीं है। धर्मको मिटानेके नाम पर कहां विरोध नहीं हुआ और उस सब विरोधके रहते हुये भी कहां धर्मका नाश नहीं हुआ? एक ओर यदि केवल विरोधको देखा जाय तो महाप्रलयका-सा चित्र आंखोंके सामने आ जाता है और दूसरी ओर यदि केवल धर्म नाशको देखा जाय तो ऐसा मालूम होता है जैसे कि किसी नटखट बालकने अपनी स्लेटपर लिखे हुये सब पाठको ही एकदम मिटा दिया हो। कहनेका तात्पर्य यह है कि धर्मका मिटाना जितना कष्ट-साध्य प्रतीत होता है, उतना ही वह सहज है। जब कि मनुष्य-समाजके परम्परागत विचार, कल्पना और दृढ़ भावना तकको बदलना कठिन है, तब धर्मको मिटानेका कार्य तो उससे भी अधिक कठिन और अधिकांशमें असम्भव ही प्रतीत होना चाहिये।

पर, क्या मनुष्यने किसी भी कार्यको असम्भव जानकर उसको पूरा करनेकी ओरसे मुंह फेर लिया है? नैपोलियनने अपने शब्द कोषमेंसे 'असम्भव' शब्दको ही निकाल दिया था और उसके बाद तो ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य-समाजने कोई अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् करके इस शब्द पर सदाके लिये हड़ताल फेर दी है। विज्ञानके आविष्कारके क्षेत्रमें कौनसी बात असम्भव रह गई है? पहिले तो मनुष्यने पृथ्वी पर हिरणकी तरह दौड़ना ही शुरू किया था, अब तो उसने मछलियोंके समान समुद्रके गहरे पेटको चीरना भी शुरू कर दिया है और पक्षियोंके समान ऊंचे आकाशमें विचरना भी सीख लिया है। मनुष्यके देहमें प्राण डालना और मृत्युके साथ लड़ाई लड़ना उसकी शक्तिके बाहिरका काम जरूर है, किन्तु उसका दिमाग उसको भी शक्य बनानेकी निरन्तर चेष्टामें लगा हुआ है। मृत्युको मनुष्य परास्त भले ही न कर सका हो, किन्तु नाशकी दृष्टिसे उसने उसके भी दाँत खट्टे कर दिये हैं। युरोपके संसारव्यापी महासमरके लिये हत्याकी जिस घातक सामग्रीका आविष्कार किया गया था, उसको देखकर एक बार तो मृत्युको भी जरूर दांतों तले अंगुली दबा लेनी पड़ी होगी। संहारकी कलामें मनुष्य मृत्युको परास्त कर चुका है। आविष्कारोंके इस कार्यको उसने कभी भी असम्भव नहीं माना।

देशकी स्वतन्त्रता किंवा राष्ट्रकी आजादीका प्रश्न सबसे अधिक जटिल और असाध्य है। कई बार तो उसका हल

करना असम्भव हो प्रतीत होने लगता है। फिर भी उसको हल करनेकी चेष्टा करनेसे मनुष्य कभी भी विमुख नहीं हुआ। सदियों तक उसके लिये निरन्तर चेष्टा की जाती है। पीढ़ी दर-पीढ़ी मनुष्यने उस चेष्टामें रत रह कर अनन्त सीमा तक कष्ट-सहन किया है और महान् से महान् बलिदान करनेमें भी कभी संकोच नहीं किया। जब स्वाधीनताके लिये मनुष्य इतना कष्ट सहन और बलिदान करता हुआ भी कभी थकता नहीं, तब वह उस स्वाधीनता प्राप्तिमें सबसे बड़े बाधक धर्मको दूर करनेमें संकोच एवं निर्बलता कैसे दिखा सकता है ?

धर्मको मिटाने अथवा उसका बहिष्कार करनेकी दृष्टिसे भारत और पश्चिमके सम्बन्धमें एक बात बहुत ही विस्मयजनक है। वह यह कि भारतके लोगोंने धर्मको ऐसा अपनाया है कि धर्मकी दृष्टिसे ही भारतमें हरएक व्यवहारको भलाई या बुराईका निर्णय किया जाता है। इसी दृष्टिसे हिन्दू-समाजमें समुद्रयात्राको वैसे ही धर्म द्वारा वर्जित ठहराया गया था, जैसे झूठ बोलना, चोरी करना तथा व्यभिचार करना निषिद्ध है। इसका परिणाम क्या हुआ ? यही कि भारतवासी कूपमण्डूप बन गये। वैदिक-कालीन साम्राज्य किंवा सार्वभौम-चक्रवर्ती-राज्यकी बातें उनके लिये हवा हो गईं। महाभारत-कालीन भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी चतुर्दिग्विजय एवं युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञका अनुष्ठान भी उनके लिये केवल एक कहानी रह गया। बौद्धकालीन भारतीय-सभ्यताका विकास केवल इतिहासका विषय रह गया।

मुसलमानी-कालीन कला, शिल्प, वाणिज्य एवं व्यवसाय सब केवल आंसू बहानेको रह गया। सारांश, धर्मके ठेकेदार कूपमण्डूप बन गये और अपने घरके भी मालिक न रहे। दूसरी ओर पश्चिम वालोंके धर्म-पुस्तक बाईबिलमें संसारका विस्तार इतना नहीं था, जितना उनके साम्राज्यका इस समय विस्तार है। उनके धर्म-पुस्तक द्वारा नियत की हुई संसारकी सीमा उनकी महत्वाकांक्षाओंको सीमित नहीं रख सकी। उन्होंने उस सीमाको पार किया और जहां तक बना वहां तक और जैसे बना वैसे अपने साम्राज्यका विस्तार किया। आज यह स्पष्ट देख पड़ता है कि धर्म-धर्म चिल्लाने वाले उनके गुलाम है, जिन्होंने धर्मका पूर्ण बहिष्कार करके विज्ञानको अपनाया है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि पूर्व पर पश्चिमकी हुकूमत क्या है, धर्म पर विज्ञानका शासन है। इस स्पष्ट सचाई और प्रत्यक्ष उदाहरणके बाद भी यदि हम चेत न सके और धर्मके भूतसे अपना पिंड न छुड़ा सकें, तो समझना चाहिये कि अपने सर्व-नाशका समय आ पहुंचा।

हम निराशावादी नहीं हैं। अपने विशाल देशके महान् भविष्य पर हमारा अटल विश्वास और अपार श्रद्धा है। सभ्यताकी दृष्टिसे भारत संसारका जगद्गुरु है। उसकी सभ्यता इतने तूफानोंके बाद भी नष्ट नहीं हुई। आज भी सभ्य संसार उसकी प्राचीनता और महानताको स्वीकार करता है। इतनी प्राचीन और महान् सभ्यता वाला देश यों ही सर्वनाशको प्राप्त नहीं हो सकता।

जब देशका सर्वनाश नहीं हो सकता, तब धर्मके सर्वनाश होनेमें तो कोई शंका ही नहीं है। जहां कहीं भी लोगोने देशकी रक्षाके लिये कमर कसी है, वहां ही धर्मकी या तो उपेक्षा की गई है अथवा उसकी सत्ताको ही बिलकुल मिटा दिया गया हैं। इतिहासज्ञोंका यह सिद्धान्त है कि इतिहासकी पुनरावृत्ति होती है। अब उनका यह सिद्धान्त भारतके प्रति सत्य सिद्ध होने वाला है और धर्मके सर्वनाशकी पुनरावृत्ति इस देशमें होने वाली है।

धर्मनाशके सम्बन्धमें जनताकी मनोवृत्ति उस स्त्री की सी है जो स्वयं परदेकी कुत्सित और जघन्य प्रथासे तंग आई हुई भी परदा दूर करनेवाली स्त्रियोंको ऊपरी मनसे तो कोसती रहती हैं और भीतरी मनसे सदा यह मनाया करती हैं कि इस कैदसे उनको भी कब छुटकारा मिले। देखादेखी धर्मपरायण बना रहने वाला हिन्दू विधवा-विवाहका विरोध करता है, किन्तु जब अपने ही घरमें अपनी किसी लड़की या बहिनको बाल-वैधव्यकी चिता पर अहर्निश जलते हुये देखता है, तब अनायास ही उसका अन्तःकरण विधवा-विवाहका समर्थन करने लगता है। उस स्त्रीमें इतना नैतिक-बल नहीं कि वह स्वयं परदेकी कैदके बंधनोंको काट डाले और इस पुरुषमें इतना आत्मिक-साहस नहीं कि वह लोक-लाज किंवा लोक निन्दाको ताक पर धरकर अपनी लड़की या बहिनका उस सन्तापसे उद्धार कर सके। ठीक यही स्थिति धर्मके सम्बन्धमें हैं। किसका हृदय इस धर्मसे छलनी नहीं बना हुआ है ? कौन उसकी बेहूदगियों और वहमोंसे तंग आया हुआ नहीं है ?

किसको उसके पागलपनसे घृणा नहीं है ? किसने उसकी कट्टरताके कष्टको अनुभव नहीं किया है ? यह स्थिति होते हुये भी प्रश्न यह है कि हवाऊंका ठौर कौन पकड़े ? कौन उसके गलेमें घण्टी बांधे ? कौन नैपोलियनके समान झण्डा हाथमें लेकर अग्नि-वर्षामें कूदे ? कौन घर-बिरादरी-जात वालोंसे लड़ाई मोल ले ? कौन सामाजिक बहिष्कारकी बह्निकी धधकती चिनगारियोंके साथ खेल खेले ? कौन अपने माता-पिता, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी आदिसे अलग होकर अकेला रहनेके झंझटमें पड़े ? कौन लोहेके चनोंको चबानेका साहस-पूर्ण परीक्षण करते हुये अपनी जान मुसीबतमें फंसावे ? सारांश, यह है कि धर्मका पूर्ण बहिष्कार सत्यकी कसौटी पर पूरा उतरनेके बाद भी मनुष्यके साहसकी कसौटी पर पूरा नहीं उतरता है। अर्थात् यह ऐसी सचाई है, जिसका पालन करना तलवारकी तेज धार पर चलनेके समान है। सचाईकी केवल इस लिये उपेक्षा नहीं की जा सकती कि मनुष्यके लिये वह कष्ट-साध्य है। अपि तु सचाईके कष्ट-साध्य होनेसे ही उसका कुछ महत्व जान पड़ता है। सरल सचाईकी अपेक्षा कष्ट-साध्य सचाईके प्रति मनुष्यकी श्रद्धा-भक्ति कुछ अधिक ही रहती है। इसीसे साहसी पुरुषका अपने पुरुषार्थपर अधिक भरोसा रहता है। शिकारीको बाजारसे खरीदे हुये मांसके खानेमें इतना आनन्द अनुभव नहीं होता, जितना कि वह स्वयं शिकार खेल कर उपार्जित किये हुये मांसके खानेमें अनुभव करता है। पैतृक-सम्पत्तिकी अपेक्षा स्वयं पैदाकी हुई सम्पत्तिके लिये मनुष्यको कहीं अधिक

अभिमान रहता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वभावसे ही मनुष्य साहसी, उद्यमी और पुरुषार्थी है। यदि वह साहस, उद्यम अथवा पुरुषार्थसे विमुख होता है तो वह अपने स्वभावकी स्वयं ही हत्या करता है और यह ऐसी हत्या है जिससे कि मनुष्यका मनुष्यत्व ही खटाईमें पड़ जानेका भारी भय है। इसीसे अपने मनुष्यत्वकी रक्षाके लिये ही मनुष्यको इस सचाईको व्यावहारिक जीवनमें पूरा उतारनेकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये। रूस, टर्की, चीन, जापान आदि देशोंके अभ्युदयके स्पष्ट उदाहरणको सामने रखते हुये अपने देशके अभ्युदयके यत्नमें भी पूरी सचाईके साथ लग जाना चाहिये। देशके भविष्यमे दृढ़ विश्वास होनेसे ही हमारा यह भी दृढ़ विश्वास है कि धर्मका यह सब जंजाल देशसे अवश्य ही उठ जायगा। भारतके लोग न केवल अपने व्यक्तिगत जीवनके सुधारके लिये किन्तु देश एवं राष्ट्रके अभ्युदयके लिये भी धर्मका पूर्ण बहिष्कार निश्चय ही करेंगे। इस बहिष्कारके सम्बन्धमें किये जाने वाले आक्षेपोंपर अगले पृष्ठोंमें कुछ विचार किया जायगा और यह भी बताया जायगा कि हमारा यह विश्वास निराधार नहीं है।

४-कुछ आक्षेपों पर विचार।

—"जिस देशमें दुधमुही बच्चियोंके विवाहका समर्थन धर्मके नाम पर होता है और ऐसे विवाहोंको रोकनेके लिये बनाये गये कानूनका विरोध भी धर्मके नाम पर किया जाता है, जिस देशमें पतिका नाम तक न जानने वाली तथा उसका मुंह तक न देखो हुई बाल-विधवाओंके विवाहका धर्मके नाम पर निषेध किया जाता है और उनको बलात् वैधव्यके सन्तापमें जलनेके लिये विवश किया जाता है, जिसमें विधवाओंके साथ ही कुंवारोंकी इतनी अधिक संख्या रहते हुये आग तथा कपासको पास पास रखकर भी कपासके न जलनेकी मूर्खता-पूर्ण आशा की जाती है और जिस देशमें धर्मके अनेकों बेहूदा बन्धनोंके कारण ही स्त्रियोंको इतनी अधिक संख्यामें वेश्या-वृत्तिको अपने जीवन-निर्वाहका साधन बनाना पड़ता है, उस देशके निवासी धर्मकी आड़में सदाचारी होनेका भी ढोंग रचें, इससे अधिक विडम्बना एवं आत्म-वंचना और क्या हो सकती है?"

४

कुछ आक्षेपों पर विचार

धर्मके बहिष्कार या सर्वनाशके सम्बन्धमें किये जाने वाले आक्षेपों पर विचार करनेसे पहिले धर्मके अस्तित्वके सम्बन्धमें कुछ विचार करना आवश्यक है। वह इस लिये कि जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि धर्म कोई ऐसी पत्थरकी लकीर नहीं, जिसको मिटाया नहीं जा सकता या जिसमें रद्दोबदल (परिवर्तन) नहीं किया जा सकता। जिस धर्मनाश के लिये इन पृष्ठोंमें अपील की जा रही है वह सदा ही हुआ है, अब भी हो रहा है और भविष्य में भी होगा। धर्म कोई ऐसा शाश्वत, नित्य, स्थिर या ध्रुव नहीं है। इस परिवर्तनशील संसारमें अपरिवर्तनशील कुछ भी नहीं। फिर धर्म तो ऐसा परिवर्तनशील है कि सदा ही उसमें कुछ-न कुछ परिवर्तन बराबर होता ही रहा है और एक धर्म के स्थान पर दूसरा धर्म पैदा होता रहा है।

हिन्दू-समाजकी दृष्टि से कभी एक ही धर्म था, जिसको वैदिक-धर्म कहा जाता है। वेदोंके बाद ब्राह्मणोंका युग आया, जिसमें कर्मकाण्डका श्रीगणेश हुआ। उसके बाद पौराणिक काल आया, जिसमें पूजा-पाठ को भी धर्ममें शामिल किया

गया। कभी यह सब कर्म-काण्ड और पूजा-पाठ हिंसासे एकदम रहित था। पर, समय आया जब कि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' को सिद्धान्तके रूपमें माना जाने लगा। अर्थात् वैदिक कर्म-काण्डके लिये की जाने वाली हिंसाको हिंसा तक माननेसे इनकार किया गया। धर्मके नाम पर किये जाने वाले पापको भी पुण्यमें गिनती होने लगी। इस उलटी बहती हुई गंगाके विरोधमें भगवान् बुद्ध और महावीर स्वामी खड़े हुये। धर्मका रुप बदला। अहिंसाको फिर से धर्म माना जाने लगा। बदले हुए इन धर्मों का नाम बौद्ध और जैन रखा गया। इन धर्मोंमें वेदोंकी प्रतिष्ठा नहीं थी और वैदिक कर्मकाण्डको तो हिंसामय होनेसे ही एकदम मिटा दिया गया था। परमात्माके सम्बन्धमें ये दोनों चुप थे। वैदिक-दृष्टिसे यह सब नास्तिकता थी। इसलिये श्री शङ्कराचार्यने इस नास्तिकताका विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि धर्मके परिवर्तित रूपको 'वेदान्त' नाम दिया गया। इसके बाद तो जो भी महात्मा, सन्त या महापुरुष प्रगट हुये और जिन्होंने अपने समयकी बेहूदगियों और वहमोंको दूर करने की कोशिश की, उनके ही नामसे धर्म-परिवर्तन होकर नये धर्म, नये सम्प्रदाय, नये पन्थ बनने लगे। इतने ही से स्थालीपुलाक-न्यायसे धर्म-परिवर्तनकी वास्तविकताको समझा जा सकता है और यह जाना जा सकता है कि किस प्रकार धर्म, धर्मके सिद्धान्त और सिद्धान्तों पर आश्रित रहने वाला कर्मकाण्ड बदलता रहता है! इसलिये किसी भी धर्मको या धर्मके

किसी भी रूपको सदा ही एक-सा स्थिर मान लेना भारी भूल है।

विकासवादकी दृष्टिसे विचार करने पर भी उक्त कथनकी सचाई स्पष्ट हो जाती है। समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्रके विद्वान् वर्तमान-सामाजिक-जीवनके विकासकी इकाई मनुष्यको मानते हैं। इस विकाससे पहिले मनुष्यकी दृष्टि अपने ही तक सीमित थी। केवल अपना निर्वाह करना उसके जीवनका लक्ष्य था। जंगलमें जाकर अपने लिये खाने-पीनेके सामानकी उपलब्धि कर लेना उसके पुरुषार्थकी चरमसीमा थी। जब कि गृहस्थ, परिवार, वर्ग एवं जाति आदिकी रचना हुई, तब उसके लक्ष्यकी परिधि कुछ फैली और पुरुषार्थका दायरा भी कुछ विस्तृत हुआ। भरण-पोषण एवं जीवन-निर्वाहके दायरेके समान ही आध्यात्मिक जीवनके दायरेका भी विकास हुआ है। कभी समय था जब मनुष्य अपनी ही आत्मिक किंवा आध्यात्मिक उन्नतिमें मस्त रहता था। उसके लिये वह पर्वतकी कन्दराओंमें तपस्या करने अथवा भगवद्भक्तिमें लीन रहता था। इसीमें उसके जीवनकी सार्थकता थी। पर, आज ऐसी भगवद्भक्ति और तपस्याकी क्या कीमत है? आज उस व्यक्तिगत साधना का स्थान कितने ही प्रकारकी आराधनाने ले लिया है। साधना एवं आराधनाकी दृष्टिसे धर्मका रूप रातके बाद दिनके समान बदल गया है। अकेले मनुष्यके लिये इन सब धार्मिक व्यवस्थाओंको कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। गृहस्थ, वर्ग, एवं जातिकी रचनाके बाद ही इन

सब धार्मिक-व्यवस्थाओंकी भी रचना हुई है और निश्चय ही उनमें देश तथा कालके अनुसार सदा ही परिवर्तन होता रहा है। इनमेंसे अधिकांश व्यवस्थाओंका उद्गम स्थान तो मनुष्य की स्वार्थ बुद्धि है। जब ब्राह्मणोंके हाथमें धर्मकी व्यवस्था का काम आया और धर्मपर उनका पूर्ण एकाधिकार हो गया, तब उन्होंने धर्मको अपनी आजीविकाका प्रधान साधन बना लिया। भेंट, पूजा, दक्षिणा को धर्म-कर्ममें इतनी प्रधानता दी गयी कि साधारण स्थितिके लोगोंके लिये उसका अनुष्ठान करना कठिन हो गया। इस प्रकार धर्मका यह अनुष्ठान भी राजाओंकी राज-व्यवस्थाके समान सदा ही बदलता रहता है। सारांश, धर्मका बाह्य-अनुष्ठान तो परिवर्तनशील है ही, किन्तु उसका रूप भी समय समयपर बदलता रहता है। उसको स्थिर, ध्रुव या नित्य मान लेना भारी भूल और भारी भ्रम है।

जब कि धर्म परिवर्तन-शील है और एक धर्मने दूसरे धर्मको मिटानेकी सदा ही कोशिश की है, तब यह तो स्पष्ट हो गया कि धर्मके सर्वनाशकी बात ऐसी नहीं है, जिसको सुनकर घबराया जाय और यह समझा जाय कि यह कोई बहुत बड़ा नैतिक-पाप है। यदि यह कोई ऐसा नैतिक-पाप होता तो श्रीकृष्ण महाराज लड़ाईके मैदानमें महारथी अर्जुनको 'सर्वधर्मपरित्याग' का उपदेश कभी भूलकर भी नहीं देते। जिन बन्धु-बान्धव, गुरु-आचार्य और वृद्ध-जनोंकी सेवा करना सर्वोत्कृष्ट धर्म कहा गया हैं, उनको ही लड़ाईके लिये सामने उपस्थित देखकर अर्जुन

का मोह एवं भ्रममें पड़ जाना साधारण बात थी। वह उनपर कैसे हथियार चलाता? कैसे उनका हत्या करता? राज्यके लिये कैसे उस सर्वोत्कृष्ट धर्मको अवहेलना करता? पहिले तो श्रीकृष्णने अर्जुनको जन्म-मरणका क्रम बताते हुये यह समझाने का यत्न किया कि :—

"देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्ति र्धीरस्तत्र न मुह्यति॥"

अर्थात् 'जिस प्रकार मनुष्यको बचपन, युवावस्था और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार उसको दूसरा जन्म किंवा दूसरा देह प्राप्त होता है। बुद्धिमान् लोग इस देहके पीछे मोहमें नहीं पड़ते।' जब अर्जुनको इससे सन्तोष नहीं हुआ, तब उसको आत्माकी नित्यता पर उपदेश देते हुये कहा गया कि :—

"अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥"

अर्थात् 'इस संसारमें सर्वत्र व्यापक आत्मा हे अर्जुन! कभी भी नष्ट नहीं होता। जो यह समझता है कि वह किसीकी हत्या करता है या किसीसे मारा जाता है, वे दोनों ही यह नहीं जानते कि वह न तो किसीकी हत्या करता है और न कोई दूसरा उसको हत्या कर सकता है, वह आत्मा जन्म-मरणके बन्धनसे परे है। वह न कभी पैदा हुआ, न होता हैं और न होगा ही। वह जन्मके बन्धनसे रहित है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है। नश्वर शरीरके नष्ट हो जाने पर भी वह कभी नाशको प्राप्त नहीं होता। जैसे कि मनुष्य पुराने, मैले या फटे हुये कपड़ोंको उतार कर नये कपड़े पहिन लेता है, वैसे ही दुर्बल, क्षीण एवं शक्तिहीन शरीरको छोड़कर वह नवीन शरीरको धारण कर लेता है।" फिर आत्मा-को अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य आदि बताकर अर्जुनको युद्धके लिये तय्यार करनेका यत्न किया गया। जब इस पर भी उसको समाधान नहीं हुआ और वह युद्धके लिये तय्यार नहीं हुआ तब उसको "स्वधर्म"के नामसे समझानेका उद्योग किया गया। उससे कहा गया कि:—

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्माद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृत्तम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥"

अर्थात्—'अपने क्षात्र धर्मको देखते हुये भी तुमको मोह या भ्रममें पड़ना शोभा नहीं देता। धर्मकी दृष्टिसे क्षत्रियके लिये युद्धसे अधिक श्रेष्ठ कर्म और क्या है? तुम्हारे लिये तो यह स्वर्गका द्वार खुल गया है। जिन क्षत्रियोंके भाग्योंमें सुख बदा है, उनको ही ऐसे युद्धका अवसर प्राप्त हुआ करता है। यदि तुम इस धर्म-संग्रामसे मुख मोड़ोगे तो स्वधर्म और यशको खोकर पापके भागी बनोगे।' इस प्रकार धर्म, स्वर्ग, पाप एवं पुण्य आदि की दृष्टिसे भी अर्जुनको बहुत समझाया गया और उसको बताया गया कि 'भले व्यक्तिका अपमान मृत्युसे भी अधिक गर्हित है' और धर्मकी महिमामें तो उससे यहां तक कहा गया कि:—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

अर्थात् 'धर्मका थोड़ा सा भी पालन बड़े भारी भयसे मनुष्यकी रक्षा करता है।' और:—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।"

अर्थात् 'अपने धर्मको पालन करते हुये मृत्युका होना भी भला है और उसको छोड़कर दूसरे धर्मका अनुष्ठान करना बड़ा ही भयानक है।' धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, सुख-दुख, तथा मान-अपमान आदि सभी दृष्टियासे अर्जुनको युद्धके लिये तय्यार करनेकी चेष्टा की गई। फिर कर्मयोग और ज्ञानयोगकी

भी विस्तारके साथ व्याख्याकी गई। गीताका सब उपदेश इस व्याख्याके अलावा कुछ भी नहीं। पर, अर्जुनका भ्रम और मोह इस सब उपदेशसे भी दूर नहीं हुआ। श्रीकृष्णने जब देखा कि धर्मका यह सब उपदेश, पाप-पुण्यकी यह सब भावना, स्वर्ग-नरककी यह सब कल्पना और मान-अपमानका यह सब विचार भी अर्जुनकी मोहमाया और उसके भ्रमजालको छिन्न-भिन्न नहीं कर सका, तब उनको अन्तमें यह कहना ही पड़ा कि—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

अर्थात् 'सब धर्मोंका पूरी तरह त्याग करके केवल एक मेरी शरणमें आजा। मैं तुमको सब पापोंसे बचा लूंगा। किसी भी प्रकारकी कुछ भी चिन्ता न कर।' इस मोहमाया और भ्रमजालमें पड़नेसे पहिले भी श्रीकृष्ण पर अर्जुनको इतना भरोसा अवश्य था कि उसने सब सैन्यकी तुलनामें अकेले उनको और वह भी शस्त्र-रहित उनको ही अपनी ओर लेना स्वीकार किया था। इस लिये अपने प्रति अर्जुनका कुछ अधिक विश्वास पैदा करनेके लिये लड़ाईके मैदानमें इतने गंभीर उपदेशकी आवश्यकता तो प्रतीत नहीं होती। फिर भी इस सब उपदेशका सारांश इतना ही है कि देश, काल, पात्रका विचार करते हुये धर्मकी अवहेलना अथवा उसका त्याग करनाही पड़ता है। इसलिये लड़ाईके मैदानमें अर्जुनको बन्धु-बान्धव, गुरु-आचार्य एवं वृद्धजनोंकी पूजा या सेवाके सर्वोत्कृष्ट धर्मका त्याग करना आवश्यक ही था और

धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदिकी सब भावनाओंसे ऊपर उठना भी अनिवार्य था। जब श्रीकृष्ण सरीखे चतुर राजनीतिज्ञ धर्मकी इतनी महिमाका गान एवं बखान करनेके बाद भी अर्जुनको 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' का उपदेश दे सकते हैं, तब यदि गुलामीके गहरे गढ़में पड़ हुये, सब दृष्टियोंसे दीन-हीन अवस्थाको प्राप्त और धर्मकी मोह-माया एवं भ्रम-जालमें उलझे हुये देशवासियोंसे 'सर्वधर्म-परित्याग' के लिये अपील की जाय, तो कौन-सा अनोखी बात है? इसमें घबरानेका क्या कारण है? यह कौन-सा ऐसा नैतिक-पाप है? देशवासियोंके लिये यह अनिवार्य है। 'सर्वधर्म-परित्याग' का सीधा अर्थ है सब धर्मोंका बहिष्कार या सब धर्मोंकी अवहेलना।

रात-दिन धर्म धर्म चिल्लाने वाले लोगोंने तो अपने लिये एक बहुत सुन्दर व्यवस्थाकी हुई है और वह यह है कि 'आपत्काले मर्यादा नास्ति' अर्थात् आपत्कालमें धर्मकी मर्यादा का कोई बन्धन नहीं रहता। इसीका दूसरा नाम है 'आपद्धर्म।' सच कहा जाय तो धर्मकी मर्यादाकी परीक्षा आपत्कालमें ही होनी चाहिये। सिर पर आपत्तिके बादल मंडराते रहने पर भी मनुष्यको अपने धर्मपर दृढ़ अवश्य रहना चाहिये, यदि धर्म कुछ ऐसा त्रिकालबाधित है कि उसको कभी छोड़ा नहीं जा सकता। इस आपद्धर्मकी व्यवस्थाने किंवा आपत्तिकालमें धर्मकी मर्यादाका बंधन न रहनेसे यह तो स्पष्ट हो गया कि धर्म त्रिकालबाधित नहीं है। वह ऐसा नहीं जिसमें कि एक मात्राकी

भी कभी कमी नहीं की जा सकती। इस व्यवस्थाके रहते हुये वर्तमान आपत्कालको देखते हुये यदि धर्मकी मर्यादा (जिसको कि मर्यादा कहना ठीक नहीं है) के उल्लंघन करनेकी बात कही जाती है, तो कौन-सा अनर्थ किया जाता है? देशपर छाई हुई आपत्तिके सम्बन्धमें विज्ञ पाठकोंको स्वयं ही कुछ विचार करना चाहिये। हमारी दृष्टिमें सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि देश हर तरहकी पराधीनताके पंकमें पड़ा सड़ रहा है। देशकी राजनीतिक पराधीनताके कारण हम इतने दीन-हीन समझे जाते हैं कि अपने देशमें और दूसरे देशोंमें भी हमारी मान-मर्यादा कुछ भी नहीं। कुली या कुली-राजासे बढ़कर हमारी कुछ हैसियत नहीं। संसार हमको भेड़-बकरियोंसे भी गया-बीता समझता है। आध्यात्मिक दृष्टिसे हमारी स्थिति और भी अधिक दीन-हीन है। जिस आध्यात्मिकताका हमको इतना अभिमान है, उसका अब दिवाला पिट चुका है। नाममात्रके साधु-सन्तों और वेशधारी महात्माओंकी ठगविद्यासे अधिक अध्यात्मवाद क्या है? सामाजिक जीवनकी अवस्थाका चित्र किससे छिपा हुआ है? मुसीबतकी मारी हुई विधवाओंको करुण कहानी यहां क्या लिखी जाय? क्या उनके लिये इससे भी अधिक संकटका कोई और आपत्ति-काल कभी आ सकता है? पुरुष स्वयं तो ६०-७० वर्षकी आयुमें तीन चार स्त्रियोंकी हत्याका स्वयं कारण होनेके बाद भी फिर फिर विवाह करनेसे रुकता नहीं और स्त्रीके लिये इतनी कड़ी मर्यादा है कि वह बाल-विधवा

होने पर भी मुंहसे विवाह शब्दका उच्चारण नहीं कर सकती और मनमें उसका विचार तक नहीं ला सकती। अछूत कहे जाने वाले भाइयोंकी भी वैसी ही संकटापन्न अवस्था है। कहीं तो वे आम सड़कोंपर चल तक नहीं सकते। उनके स्पर्शकी बात तो बहुत दूरकी है, उनकी छाया और दृष्टि तकसे परहेज किया जाता है। शिक्षामें सब भारत ही अभी पिछड़ा हुआ है, किन्तु उन विचारोंके लिये आजीविकाका मार्ग तक निर्बाध नहीं। क्या उनके लिये इससे भी अधिक किसी आपत्कालकी कल्पना की जा सकती है? क्यों न वे धर्मकी मर्यादाका उल्लंघन करें अथवा दूसरे शब्दोंमें क्यों न वे धर्मके विरुद्ध विद्रोह करते हुये उसके सर्वनाशके लिये यत्नवान् हों? सामाजिक जीवनका नैतिक-दृष्टिसे जो पतन हुआ हैं, वह भी पराकाष्ठाको पहुँच चुका है। समाज-की व्यभिचार-लीलाकी साक्षी उस वेश्यावृत्तिसे मिलती है, जिससे बाधित होकर कितनी ही स्त्रियां अपने सतीत्वको प्रति दिन बेचनेके लिये विवश होती हैं। मन्दिरोंकी व्यभिचार-लीलाका समर्थन तो धर्मके नाम पर ही किया जाता है। इस व्यभिचार लीलाके जारी रहते हुये सामाजिक सदाचारकी धार्मिक मर्यादाकी रक्षाकी आशा रखना वैसा ही है, जैसे कि कोई बंध्या स्त्री से पुत्रकी आशा रखता हो। समाजके लिये नैतिक दृष्टिसे इससे अधिक आपत्तिका समय और क्या हो सकता है? इसलिये यदि आपद् धर्म की व्यवस्था ठीक है और यह भी ठीक है कि इस कालमें धर्मकी मर्यादाका बन्धन नहीं रह सकता तो फिर क्यों

उसको बनाये रखने की जिद्, हठ या दुराग्रह किया जाता है ? उसके सर्वनाशका समय तो स्वयं ही आ पहुंचा है। क्यों पानीकी तेज धाराको पीठसे रोकनेकी व्यर्थ चेष्टा करते हुये अपने जीवनको भी सर्वनाशके संकटमें डाला जाता है ? नीति-ग्रन्थोंमें पुरुषको सबसे बड़ा उपदेश 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' दिया गया है। जब कि आत्मरक्षाके लिये समस्त पृथिवीका त्याग किया जा सकता है, तब वह धर्म तो क्या है जिसने हम लोगोंको सभी दृष्टियोंसे रसातलमें पहुंचा दिया है और हमारी आत्म-हानिमें कुछ भी कसर बाकी नहीं रखी है। उसको मिटानेके लिये एक बार तो अर्जुनके समान कटिबद्ध होना ही चाहिये।

यह तो स्पष्ट हो गया कि धर्मकी अवहेलना कोई ऐसा नैतिक-पाप नहीं। अब थोड़ेमें कुछ अन्य आक्षेपों पर विचार कर लेना चाहिये। धर्मके मिटनेकी बात सुनते ही जो सबसे पहिला और बड़ा आक्षेप किया जाता है, वह यह है कि धर्मके मिट जानेके बाद नैतिक-जीवनकी मर्यादा कैसे रहेगी ? सदाचार कैसे सुरक्षित रहेगा ? धर्मका नैतिक बांध टूट जाने पर चारों ओर व्यभिचार फैल जायगा। यह ऐसा आक्षेप है जिसका अतिरंजित चित्र जनताके सामने इस रूपमें उपस्थित किया जाता है कि उसको देखने वाले एकाएक घबरा जाते हैं। फिर इसके समर्थनमें पश्चिम के जीवनको एकदम नैतिकतासे रहित बता कर उसके सम्बन्धमें भी बड़ी अतिशयोक्तिसे काम लिया जाता है और लोगोंको बताया जाता है कि यह सब धर्मकी अवहेलनाका परिणाम है।

हम पूर्व और पश्चिमके सदाचारकी पारस्परिक तुलना नहीं करना चाहते। न तो हम पूर्वके सम्बन्धमें मिस मेयोकी 'मदर-इण्डिया'की दृष्टिसे काम लेना चाहते हैं और न पश्चिमके सम्बन्धमें मिस्टर गौबाके 'अंकल-शाम' की नीतिको काममें लाना उचित समझते हैं। परछिद्रान्वेषणकी दृष्टिसे विचार करने पर सचाई मालूम नहीं की जा सकती। इस लिये सचाईको ही सम्मुख रखते हुये उक्त आक्षेपके सम्बन्धमें कुछ विचार करना अच्छा होगा। पश्चिमके सदाचारके सम्बन्धमें हम लोगोंकी कही हुई बातोंमें उतनी ही सचाई है जितनी कि सचाई साम्यवादी रूसके सदाचारके सम्बन्धमें कही जाने वाली दूसरे देशवासियोंकी बातोंमें रहती थी। पश्चिमके सदाचारको पतित बताने वाले अधिकांश वे लोग हैं, जिन्होंने न तो कभी पश्चिमको देखा ही है और न कभी उसके सम्बन्धमें कुछ अध्ययन ही किया है। वैसे प्रत्यक्ष अनुभव ऐसी सब बातोंके बिलकुल विरुद्ध है। पश्चिमकी स्त्रियोंका साहस, बच्चोंकी चंचलता और पुरुषोंका उद्योग देखते हुये उनके सदाचारमें सन्देह करनेको गुञ्जाइश नहीं रहती। भारतकी हिन्दु-धर्म-परायण देवी अकेली अपने घरसे बाहिर नहीं निकल सकती और पश्चिमको स्त्रियां हजारोंकी भीड़को पानीकी धाराके समान चीरती हुई बेधड़क निकल जाती हैं। जहां हिन्दु लड़कीको कहीं अकेले या किसी दूसरेके साथ भेजनेमें भी सदा शङ्का बनी रहती है, वहां पश्चिमकी लड़कियां हवाई जहाजों पर अकेले ही उड़ती फिरती हैं और संसारके रिकार्डमें बाजी मारनेकी

हिम्मत रखती हैं। आज वे सभी क्षेत्रोंमें पुरुषोंकी बराबरीमें खड़ी हो रही हैं, जब कि भारतकी स्त्रियोंकी पहुंच अब भी चक्की, चूल्हा और बच्चोंकी सृष्टि तक ही सीमित है। हिन्दुस्थानी बालक कहीं अकेला छूट जाता है तो रो रोकर संभालने वालेको भी तंग कर डालता है, किन्तु पश्चिमके लड़के बचपनसे ही बिलकुल निर्भीक और अत्यन्त साहसी होते हैं। माता-पिताके संस्कारोंका यह परिणाम है। सदाचारी माता-पिताकी सन्तानमें जो साहस धैर्य, हिम्मत, दृढ़ता और चातुर्य होना चाहिये वह अपने यहांकी अपेक्षा पश्चिमके लोगोमें कहीं अधिक पाया जाता है। इस लिये यह कैसे माना जाय कि पश्चिमके लोग सदाचारकी दृष्टिसे पिछड़े हुये हैं ? फिर यह तो दिनके प्रकाशसे भी अधिक स्पष्ट है कि धर्मकी अवहेलनाके बाद ही रूस और टर्कीमें सार्वजनिक-सदाचारका दर्जा कहीं अधिक ऊंचा हुआ है। टर्कीके सम्बन्धमें इस विषय पर पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसको यहां दोहरानेकी जरूरत नहीं। पर, इतना लिखना आवश्यक है कि टर्कीमे जिस दिन धर्मका अवहेलना की जा सकी, उसी दिन वहांकी व्यभिचार-लीला पर भी कुठाराघात किया जा सका। सुलतान किंवा खलीफाके धार्मिक-राज्यमें उसके विरुद्ध मुंह खोलना राजद्रोह ही समझा जाता था। रूसके सम्बन्धमें निष्पक्ष लोग आज यह स्वीकार कर रहे हैं कि रूसमें सोवियट राज्यसे पहिले स्त्रियोंकी बहुत बुरी अवस्था थी। उनको पैरकी

समझा जाता था। पर, अब बिलकुल काया पलट चुकी

है। रूसी लोग अब स्त्रियोंको अपने बराबर मित्रके समान समझते हैं। उनको सब प्रकारकी सुविधायें, साधन और अवसर प्राप्त हैं। हर क्षेत्रमें वे पुरुषोंके समान ही उन्नति कर सकती हैं। बिना विवाह किये भी स्त्री-पुरुष परस्पर प्रेम होने पर एक साथ रह सकते हैं। इसीसे समझा यह जाता है कि रूसमें व्यभिचार-का नंगा नाच होता होगा। पर, वास्तवमें ऐसा नहीं है। वे बहुत ही संयमका जीवन व्यतीत करते हैं। रूसमें विवाहित जीवन बिताने वालोंकी अपेक्षा अविवाहित एवं संयमी जीवन बिताने वालोंकी कहीं अधिक प्रतिष्ठा है। इसी लोकमतके कारण व्यभिचार फैलनेकी वहां इतनी संभावना नहीं। यह उस रूसकी स्थिति है जिसमें ईश्वरका अस्तित्व नहीं माना जाता है, जिसमें गिर्जाघरोंको मिटा दिया गया है अथवा उनका उपयोग स्कूलों एवं पुस्तकालयोंके लिये किया जाता है, जिसमें पादरियोंके लिये धर्म आजीविकाका साधन नहीं रहा और जिसने सब प्रकारकी विडम्बना, आडम्बर एवं पाखण्ड और धर्म-कर्मकी सब मोह-मायाको नष्ट कर दिया है। इसीसे लोगोंमें पहिलेकी अपेक्षा आत्म-विश्वास तो इतना अधिक पैदा हो गया है कि वे अपनी मेहनतकी किंवा अपनी ही पूजा करते हैं। पराश्रित रहना उनके लिये सबसे बड़ा पाप है। प्रत्येक अपनी मेहनतसे अपना निर्वाह करनेमें तल्लीन हैं। इससे बढ़कर सदाचार और क्या हो सकता है?

सदाचार और व्यभिचारके सम्बन्धमें विचार करते हुये यह नहीं भूलना चाहिये कि आचार-विचार, वेश-भूषा एवं खान-

पान आदिके समान सदाचार एवं व्यभिचारकी भावना भी प्रत्येक देश एवं जातिमें भिन्न भिन्न है। एक ही आचरण है जिस को कुछ लोग कहीं पर व्यभिचार कहते है तो दूसरा जगह उसी-को दूसरे लोग व्यभिचार नहीं मानते। पश्चिमी स्त्रियोंका नंगो गर्दन, नंगी भुजाका पहिरावा हम लोगोंको यहां तक अखरता है कि हम उसीसे पश्चिमके लोगोंके सदाचारपर भी आक्रमण कर बैठते है। दूसरी ओर खाली पेट, नंगी पीठ और लम्बे घूंघट वाला हमारे देश का एकाक्षी पहिरावा न केवल दूसरे देशवासियोंको ही अखरता है, किन्तु इस देशवासियोंको भा बहुत अधिक अखरता है। हम उसको असभ्य पहिरावा कहते हैं तो वे इसको असभ्य कहते हुये संकोच नहीं करते। हम उनकी तलाककी प्रथाको घृणास्पद कहते है तो वे हमारे गृहस्थकी समस्त व्यवस्थाको ही घृणास्पद बताते हैं जिसमें कि स्त्रियांको दासोके समान अपना जीवन बितानेके लिये बाधित होना पड़ता है। यही अवस्था खान-पान एवं आचार-विचार को है और सदाचार तथा व्यभिचारके सम्बन्धमें भी यह सचाई बिलकुल ठीक बैठती है। पश्चिमका 'डांस' हम लोगोंकी दृष्टिमे कितना गर्हित है और हमारा देवदासी प्रथा, मन्दिरोंमें पशुओका बलि और ऐसा ही व्यवहार उनकी दृष्टिमें कितना निन्दनीय हैं? अपने ही समाजमें लोगोंको एक ओर विधवा-विवाह में कितनी आपत्ति है और दूसरी ओर इसी देशमें ऐसे समाज भी हैं जिनमें स्त्रीका विधवा रहना आपत्ति-जनक है। साधारणतया हिन्दु-समाजमें माता-पिताको छः पीढ़ी

छोड़ कर विवाह किया जाता है, पर ऐसी जातियां भी हिन्दु-समाजमें ही हैं जिनमें कि मामाकी लड़की तक से विवाह करने की आम प्रथा है। काश्मीरके ब्राह्मणोंके आचार-विचारकी कितनी ही बातें दक्षिणके ब्राह्मणोंको धर्म-विरुद्ध एवं अनाचार-पूर्ण देख पड़ती होंगी। आचार-विचारमें इतना भेद रहते हुये किसी समाज, जाति अथवा देशके किसी आचार-विशेषको व्यभिचार कहना या अपनी दृष्टिसे दूसरोंको व्यभिचारी बताना अनुचित, अन्याय-संगत, विवेक-शून्य एवं विचार-रहित है। इस लिये पश्चिमको धर्मकी दृष्टिसे नास्तिक कहकर व्यभिचारी बताने वालोंके साथ सहमत होना हमारे लिये संभव नहीं।

पश्चिमको छोड़कर इस आक्षेपके सम्बन्धमें अपनी ही दृष्टिसे विचार करना अधिक अच्छा होगा। इसीसे यह देखना चाहिये कि हमारा धर्म हमको व्यभिचारमें गिरनेसे बचानेमें कहां तक सहायक एवं समर्थ हुआ है? जिस देशमें दुधमुही बच्चियोंके विवाहका समर्थन धर्मके नाम पर होता है और ऐसे विवाहोंको रोकनेके लिये बनाये गये कानूनका विरोध भी धर्मके नाम पर किया जाता है, जिस देशमें पतिका नाम तक न जानने वाली तथा उसका मुंह तक न देखी हुई बाल-विधवाओंके विवाहका धर्मके नामपर निषेध किया जाता है और उनको बलात् वैधव्यके सन्तापमें जलनेके लिये विवश किया जाता है, जिस देशमें विधवाओंके साथ कुंवारोंकी इतनी अधिक संख्या रहते हुये आग तथा कपासको पास पास रख कर भी कपासके न जलनेकी

मूर्खता-पूर्ण आशा की जाती हैं और जिस देशमें धर्मके अनेकों बेहूदा बंधनोंके कारण ही स्त्रियोंको इतनी अधिक संख्यामें वेश्यावृत्तिको अपने जीवन-निर्वाहका साधन बनाना पड़ता है, उस देशके निवासी धर्मकी आड़में सदाचारी होनेका भी ढोंग रचें, इससे अधिक विडम्बना एवं आत्म-वंचना और क्या हो सकती है ? बाजारों, गलियों, चकलों और अड्डों पर होने वाले व्यभिचारको छोड़ भी दें, तो भी धर्मकी भावनाने मनुष्यको व्यभिचारमें किस प्रकार प्रवृत्त किया है, इसको स्पष्ट करनेके लिये एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

वर्णव्यवस्थाके अनुसार मनुष्यका जीवन इन चार हिस्सोंमें बांटा गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। पर, आज गृहस्थ-रूपी समुद्रके पेटमें तीनों ही समा गये हैं। क्यों ? इसलिये कि धार्मिक दृष्टिसे सन्तान पैदा करना इतना आवश्यक समझा जाने लग गया कि उसके बिना मनुष्य जीवनकी सार्थकता कुछ भी नहीं रहती। मृत्युके उपरान्त पुत्र यदि पिण्डदान न करे तो सद्गति कैसे हो ? 'पुत्र' शब्दका अर्थ ही यह किया जाता है कि 'पुम्-नरकात् त्रायते-इति पुत्रः ?' अर्थात् नरकसे रक्षा करने वाला पुत्र है। फिर पितरपक्षमें खान-पानकी यथायोग्य व्यवस्था भी तो पुत्रके बिना नहीं हो सकती। कल्पमुनि ८८ हजार वर्षों तक निरन्तर तपस्या करनेके बाद भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सके थे। इसका कारण नारदजीने यह बताया था कि बिना पुत्रके मुक्ति नहीं मिल सकती। ८८ हजार वर्ष तपस्यामें लगा देने वाला

बूढ़ा मनुष्य पुत्र कहांसे प्राप्त करता ? उसको विवाहके लिये स्त्री कहांसे मिलती ? बताया गया है कि विवाहके पहिले ही कल्पमुनिको पुत्र मिल गया, फिर स्त्री भी मिल गई। ऐसी कितनी ही धार्मिक कथायें पुराणोंमें एवं दूसरे धर्म-ग्रन्थोंमें भी मिलती हैं, जिनमें पुत्रकी आवश्यकताको ८८ हजार वर्षकी निरन्तर तपस्यासे भी कहीं अधिक महत्व दिया गया है। जब कि केवल एक पुत्र पैदा करनेसे ही स्वर्ग-नरककी सब समस्या हल हो जाती है, तब पुत्र पैदा करनेका ही यत्न क्यों न किया जाय ? इसी यत्नके पीछे पड़ कर मनुष्यने क्या नहीं किया ? विवाह-सम्बन्धी जितनी भी बुराइयां है, उनका उद्‌गम स्थान यह ही यत्न किंवा यह ही भावना हैं। बाल-वृद्ध-बेजोड़ एवं बहु-विवाह सब यहां ही से शुद्ध हुये हैं। एक ओर माता-पिता सन्तानको नरकसे बचानेके लिये इतने आतुर रहते हैं कि वे जल्दीसे जल्दी उसका विवाह कर देना ही अपना धार्मिक किंवा नैतिक कर्तव्य समझते हैं। इसीसे बाल-विवाहकी प्रथाका श्रीगणेश हुआ। दूसरी ओर मनुष्य निस्सन्तान होनेसे विवाह पर विवाह करता चला जाता है। मृत-स्त्रीकी दाह-क्रियाके बाद वह अभी घर भी नहीं पहुंचा होता कि नये विवाहकी योजनायें बनने लग जाती है। वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह और बहु-विवाहके सूत्रपातका यही क्रम है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यासकी व्यवस्था नष्ट होकर केवल गृहस्थ रह गया और गृहस्थका भी इतना अधिक नैतिक-पतन हो चुका है कि उस पर पड़े हुये कपड़ेको

उठानेका साहस करना अति-साहस किंवा दुस्साहस ही होगा। धर्मान्ध लोग शान्त-चित्त एवं निष्पक्ष-दृष्टिसे विचार करें कि पुत्रोत्पत्तिकी धार्मिक-भावनासे समाजकी सदाचारकी मर्यादाका किस प्रकार नाश हुआ है और किस प्रकार समाजमें व्यभिचार का संचार हुआ है ? ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर, विज्ञ पाठकोंके लिये इस सम्बन्धमें कुछ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

हमारा विचार तो यह है कि धर्मका सदाचारके साथ सैद्धान्तिक दृष्टिसे कितना भी सम्बन्ध क्यों न बताया जाता हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध कुछ भी नहीं। वह सैद्धान्तिक व्यवस्था किस काम की है, जो समाजके व्यावहारिक जीवन पर नियन्त्रण नहीं रख सकती। कागजों किंवा किताबोंमें सुन्दरसे सुन्दर राजव्यवस्था रहने पर भी यदि राजा या नियामक-सभा द्वारा उसको व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता तो उस राज-व्यवस्थाकी कीमत ही क्या है ? ऐसा राज-सभा या राजा स्वयं अपने नाशको निमन्त्रित करते हैं। राज्य क्रान्तियोंका उद्गम ऐसी ही अवस्थासे होता है। राजाओंकी समस्त शक्ति, शस्त्रास्त्र एवं सैन्यका पूर्ण-प्रबन्ध, कठोरसे कठोर दमन और नयेसे नये स्वेच्छाचार-पूर्ण कानून भी इस प्रकार होने वाली राज्य-क्रान्तिके वेगको रोक नहीं सकते। ठीक यही धर्मकी सैद्धान्तिक व्यवस्था की अवस्था है। कहा जासकता है कि इस में व्यवस्थाका क्या दोष है ? व्यवस्था और उनमें, जिनपर उसको

व्यवहारमें पूरा उतारनेकी जिम्मेवारी है, शरीर और आत्माका सा सम्बन्ध है। आत्माके बिना शरीरका क्या प्रतिष्ठा रह जाती है ? सिवा इसके कि उसको ले जाकर चितामें भस्म कर दिया जाता है, अथवा जमीनमें गढ़ा खोद कर गाड़ दिया जाता है। वैसे शरीर के सम्बन्धमें यहां तक माना गया है कि 'नायामात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् निर्बल और शक्ति हीन देहमें आत्मा निवास नहीं कर सकता।' ठीक इसी प्रकार वह व्यवस्था फूंक देने लायक है, जो कि समाजके व्यावहारिक जीवन पर नियन्त्रण रखनेमें दिवा-लिया साबित हो चुका है। उसका एक प्रकारसे तो उसी दिन अन्त हो गया, जिस दिन उसकी नियन्त्रण शक्ति नष्ट हो गई। इसी लिये समाजके वर्तमान गर्हित जीवन को देखते हुये यह मानना पड़ता है कि धर्म उसके सदाचारकी रक्षा करनेमें असमर्थ साबित हो चुका है। इसोसे धर्म और सदाचारका गठजोड़ा बलात् बनाये रखना निरर्थक है। यह भी एक ऐसी आत्म-वंचना है जिसमें पड़कर मनुष्यने अपना इतना अधिक हानिकी है कि उसकी क्षति-पूर्ति होना संभव नहीं है। समाजके सदाचारकी रक्षाके लिये यदि धर्म पर्याप्त होता तो मन्दिरों तथा तीर्थ सरीखे धर्म स्थानोंमें और पण्डे, पुरोहित एवं पुजारियों सरीखे धर्मा-धिकारियोंमें इतना अनाचार एवं व्यभिचार क्यों फैलता ?

वस्तुस्थिति यह है कि धर्मोंकी इन सब व्यवस्थाओंकी यह मर्यादा उस रेखाके समान है जो कि लक्ष्मणने सीताकी रक्षाके लिये पंचवटीको कुटियाके चारों ओर खींची थी। वह रेखा

सीताकी रावणसे रक्षा नहीं कर सकी और यह मर्यादा समाजके सदाचार की रक्षा करनेमें असफल सिद्ध हो चुकी है। प्राण निकल जानेके बाद शरीरके मोहमें पड़े रहना कौन सी बुद्धिमानी है। एक नवीन इतिहास बनानेकी हिम्मतके साथ सीताकी खोजमें निकलना होगा। नये संसारमें असहाय अवस्थामें रहते हुये भी सब सामग्री जंगलों और पहाड़ोंमेंसे ही बटोरनी होगी। पुरानी धर्म-व्यवस्था, पुरानी समाज-रचना, पुरानी मर्यादा, पुरानी परम्परा, पुरानी भावना, पुरानी कल्पना और पुरानी आकांक्षाओंको एकदम तिलांजलि देकर रूस और टर्कीके समान नवीन उत्साहके साथ राष्ट्र-निर्माणके कार्यमें लगना ही राष्ट्रीय-मुक्तिका एकमात्र साधन है। सीताकी खोजमें राम तथा लक्ष्मणको प्राप्त संकटोंकी कल्पना करनी चाहिये और उनके उद्योगकी ओर भी दृष्टिपात करना चाहिये। फिर अपने देशके नवीन इतिहासकी रचना करनेमें तत्पर होनेसे न तो कुछ निराशा होगी, न उत्साह कुछ कम होगा और न लौटकर पीछेकी ओर देखनेकी ही कुछ जरूरत रहेगी।

धर्मप्राण लोगोंको नास्तिकताका भी कुछ कम भय नहीं है। वे यह समझते हैं कि धर्म-लोप होते ही समस्त देशमें नास्तिकता फैल जायगी। नास्तिक शब्दका वह अर्थ माननेके लिये हम कभी तय्यार नहीं जिस अर्थमें म्लेच्छ, काफिर, पतित, भ्रष्ट आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। नास्तिक स्पष्ट अर्थोंमें उसको कहना चाहिये, जिसको अपने पर कुछ भी विश्वास नहीं है अथवा जो आत्मविश्वासको खो चुका है। आत्मविश्वासका अभाव ही

नास्तिकता है। अपनी दृष्टिसे रूस, टर्की आदि देशोंको हम भले ही नास्तिक कह लें, किन्तु नास्तिक शब्दको ठीक ठीक व्याख्याको सामने रखते हुये उनको नास्तिक नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिसे संसारमें सबसे बड़े नास्तिक हम ही हैं। हमारी इस नास्तिकताका प्रधान कारण हमारा धर्म है। इस धर्मके कारण हमारा अपने पर यत्किंचित् भी विश्वास नहीं रहा। एक साधारणसे पत्रको दस पंक्तियोंमें पांच बार भगवान्का नाम लिखा जाता है। बात बातमें भगवान्की दुहाई दी जाती है। अच्छा-बुरा जो कुछ भी होता है,सब भगवान्के नाम पर स्वीकार कर लिया जाता है और कहा जाता है कि भगवान जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। क्या करें हमारी किस्मतमें ऐसा ही लिखा है? आत्मविश्वास खोकर हम लोग कितनी मन्नतें मनाते फिरते हैं, कितने ही साधु-सन्तों एवं फकीरोंके पीछे घूमते रहते हैं, और तो और बच्चों तकके लिये दूसरों पर निर्भर रहते हैं। हमरा धर्म, धर्मानुष्ठान, पूजा-पाठ इत्यादि सब ऐसा ही है कि उसके द्वारा हमारा आत्म-विश्वास बिलकुल नष्ट हो चुका है। इसपर भी हम अपनेको नास्तिक न कहकर दूसरोंको नास्तिक कहते फिरें, तो हमारी बातको मानेगा कौन? क्या इससे भी अधिक अपनेको कुछ धोखा दिया जा सकता है?

इसी प्रसंगामें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि गुलामोंका धर्म ही क्या है। वह सदाचार, पवित्रता, धर्म-कर्म और पूजा-पाठ किस कामका, जोकि देशको स्वाधीन बनानेके काम नहीं आता।

शेरका स्वाभाविक-धर्म शिकार खेलना है, पर सर्कसके पिंजरे और चिड़ियाखानेके कटघरेमें बंद शेर उस धर्मका पालन नहीं कर सकता। देशकी स्वाधीनता ही धर्मका अन्तरात्मा है। बिना उसके धर्म प्राण-रहित शरीरके समान है। 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' अर्थात् सौ वर्षकी आयुमें कभी भी दीन हीन एवं पराधीन न होनेकी प्रार्थना हिन्दू अपनी सन्ध्यामें सदा ही करता है। दूसरे सब धर्मों एवं सम्प्रदायोंमें भी ऐसी प्रार्थनायें अवश्य मिलेंगी। पर, उन सबको भुला कर आजीवन गुलाम बने रहने की प्रार्थना करने वालोंकी संख्या धर्माभिमानियोंमें ही अधिक मिलेगी। अपने देशकी स्वाधीनताके लिये उद्योग करने वालों पर धर्मके आधारपर नाना प्रकारके आक्षेप करते हुये ऐसे लोग थकते नहीं, किन्तु स्वयं ही धर्मकी अन्तरात्माकी हत्या करके उसको प्राणहीन एवं सत्वहीन बनानेमें उनको तनिक भी लज्जा कभी अनुभव नहीं होती। यदि धर्ममें फिरसे प्राण-प्रतिष्ठा करनेके लिये हम वर्तमान स्थिति एवं अवस्थाको बदलनेकी बात कहते हैं और उसके लिये ही धर्मके समस्त आडम्बर, पाखण्ड और विडम्बनाको मिटाने पर जोर देते हैं, तो हम कौन-सी ऐसी बुराई करते हैं, जिसको सुनते ही ऐसे लोग 'शान्तं पापम्' 'शान्तं पापम्' की रट लगाने लगते हैं।

इस धर्मको दृष्टिसे तो हम नास्तिकवादको कहीं अधिक अच्छा समझते हैं। हमारा आस्तिकवाद केवल राष्ट्र-धर्म है। इस राष्ट्र-धर्मके सम्बन्धमें पृथक् विचार करना अच्छा होगा।

५-राष्ट्रधर्म या राष्ट्रवाद क्या है ?

—"All the nonsense is going to cease. Harems, veils, lattice windows and all the retrograde heresies belong to an age that has passed and must go. How we can build up a perfect democracy with half the population in bondage? In two years time every woman must have her fase uncovered and work side by side with man, and the man will wear hats. The days when clothes were symbol of a religion has passed The "Fez" which symbolized a faith must go, and all the fanatisism that goes with it."

—GHAZI MUTAPHA KEMAL PASHA.

—"यह सब बेहूदगी शीघ्र ही मिट जायगी। हरम, घूंघट, परदेवाली खिड़कियों और पीछेकी ओर लेजानेवाले सब विचारोंका समय बीत गया। इसलिये अब उनका भी अन्त करना होगा। आधी जनताको अन्धकार और गुलामीमें रखते हुये प्रजातन्त्र-शासन कैसे कायम किया जा सकता है? दो वर्षमें प्रत्येक स्त्रीको अपने मुंहपरसे घूंघट हटा लेना होगा और मनुष्योंकी बराबरीमें खड़े होकर सब काम करना होगा। मनुष्योंको हैट पहिनने होंगे। वह समय गुजर गया, जब कि कपड़ोंको धर्मका चिन्ह माना जाता था। 'फ़ज़' जो धर्मका चिन्ह है, उसको ज़रूर त्यागना होगा और उसके साथ जो अन्धविश्वास है उस सबको भी मिटाना होगा।

—गाजी मुस्तफा कमाल पाशा

५

राष्ट्रधर्म या राष्ट्रवाद क्या है ?

राष्ट्र-वाद किंवा राष्ट्र-धर्मके सम्बन्धमें विचार करनेसे पहिले वह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमको 'धर्म' शब्दसे कुछ ऐसी चिढ़ नहीं कि हम शब्द-कोषमेंसे ही उसको मिटा देना चाहते हैं। यदि ऐसा होता तो इस लेखके शीर्षकमें राष्ट्र शब्दके साथ 'धर्म' शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। धर्मकी उस सचाई को हम स्वीकार करते हैं, जो कि सभी धर्मोंमें एक समान पाई जाती है और जिसके सम्बन्धमें किसी भी धर्मानुयायीका मतभेद नहीं है। गणित, विज्ञान और अर्थशास्त्रकी सचाइयोंको किसी भी देशकी किसी भी भाषामें क्यों न लिखा जाय, वे एक-सी रहते हैं। भाषा बदल जाने पर भी वे नहीं बदलतीं। मनुष्यके देह और उसके भीतरकी आत्माको बाह्य-वेशभूषासे बदला नहीं जा सकता। देखने वालोंको शकल-सूरत बदल कर धोखेमें डाला जा सकता है, पर देह और आत्माका वेश-भूषा द्वारा बदल सकना सम्भव नहीं। इसी प्रकार भाषाका परिवर्तन किसी भी विज्ञानकी सचाईमें परिवर्तन पैदा नहीं कर सकता। दो और दो हर एक भाषामें चार ही रहेंगे। वह न पांच होंगे और न तीन

ही। जलको पानी, आब, वाटर आदि चाहो जो कह लो, वह रहेगा पानी ही। उसकी स्निग्धतामें कुछ भी परिवर्तन नहीं पैदा होगा। दूधको पयस्, मिल्क आदि कोई भी नाम क्यों न दे दो, उसकी सफेदी नहीं बदलेगी। इसी प्रकार सच बोलना, हिंसा नहीं करना, संयमसे जीवन बिताना, आत्मिक उन्नतिके लिये यत्न करना, चोरी नहीं करना, आहार-विहारको शुद्ध रखना, इन्द्रियोंके वशीभूत होकर विवेक-रहित नहीं होना—इत्यादि ऐसी सच्चाइयां हैं जिनसे कोई भी इनकार नहीं करता है। उनकी आवश्यकताको बड़ेसे बड़े नास्तिक भी स्वीकार करते हैं। हम भी उनकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराजने लेखक द्वारा लिखित 'दयानन्द-दर्शन' की भूमिकामें बिलकुल ठीक ही लिखा है कि "संसारके सम्प्रदाय धर्मकी रक्षाके लिये स्थापन किये गये थे, परन्तु आज वे ही सम्प्रदाय मूल धर्मको भूलकर उसके गौण मतभेदोंके वादानुवादमें लगे हुये हैं। जिस प्रकार शरीरको जीवित रखनेके लिये अन्न-फलादिके आहारकी आवश्यकता है, उसी प्रकार आत्मिक जीवनकी रक्षाके लिये भी धर्मरूपी आत्मिक आहारकी आवश्यकता होती है। शरीर-रक्षाके लिये अन्न और फल मुख्य हैं, परन्तु उसी अन्न और फलकी रक्षाके लिये खेत व वाटिकाके इर्द गिर्द बाड़ लगानी पड़ती है। कैसा मूर्ख वह किसान है जो अन्न फलकी पैदावारको भुला कर अन्य किसानोंकी बाड़ोंसे ही अपनी बाड़का मुकाबिला कर उनका तिरस्कार करता है? इसी प्रकार जीवा-

त्माका मुख्य धर्म प्रकृतिके संसर्गसे छूट कर परमात्मामें स्वतन्त्र रूपसे विचरण करना है। उसकी रक्षाके लिये जो साम्प्रदायिक विधियां नियत की गई है वे खेतोंकी बाड़ोंके सदृश ही गौण हैं। कितना मूर्ख वह साम्प्रदायिक पुरुष है, जो गौण नियमोंके विवादमें फंसकर अपने मुख्य धर्मको भूल जाता है।" हम आत्मिक जीवन और उसके लिये आवश्यक धर्मकी सत्ताको स्वीकार करते हैं। धर्मके सर्वनाशसे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि आत्माके लिये आवश्यक इस धर्मको भी मिटा दिया जाय। पर, वस्तुस्थिति देखी जाय तो इस धर्मको हम लोगोंने पहिले ही भुला अथवा मिटा दिया है। बाकी जो कुछ भी बचा है, वह साम्प्रदायिक पुरुषकी मूर्खताके सिवा कुछ भी नहीं। वह मूर्खता ही इस समय 'धर्म' है। हम इस मूर्खताके धर्मको मिटा देना चाहते हैं और उसका इस प्रकार और इतना सर्वनाश कर देना चाहते हैं कि उसकी स्मृति और छाया तक भी बाकी नहीं बचनी चाहिये। धर्मके बहिष्कारसे हमारा यही अभिप्राय है। जहां भी कहीं धर्मके विरुद्ध विद्रोह हुआ है वहां ऐसा ही किया गया है। इस समय धर्म आत्माका आहार नहीं रहा, वह पेटका आहार और विषय-वासनाकी पूर्तिका साधनमात्र रह गया है। धर्मके वर्तमान अनुष्ठान और कर्मकाण्डकी आड़में ही धर्माधिकारी भी सेठ, साहूकार जमीदार और राजा बने हुये हैं। उनके राजसी ठाठबाठ, राजसी सवारियां और राजसी महल राजाओंके ठाठबाठ, सवारियों और महलोंको भी नीचा दिखाते हैं। उनकी

जायदाद्की कीमत कूती जाय तो उसका हिसाब करोड़ों और अरबों तक पहुंच जायगा। नागों, वैरागियों और उदासियों आदिके अखाड़ोंकी सम्पत्तिका कोई हिसाब नहीं। काशीके विश्वनाथजी, पुरीके जगन्नाथजी, नासिकके कालाराम, मदूराके मोनाक्षी और उदयपुरके नाथजी आदिके मन्दिरोंकी सम्पत्तिका कोई पार नहीं। दक्षिणके ऐसे ही एक मन्दिरके पुराने तहखानेको खोलने पर उसके एक हिस्सेमेंसे अटूट सम्पत्ति हाथ लगी थी। अभी उस दिन मद्रास कौंसिलमें एक मन्दिरकी सोलह लाखकी प्रतिवर्षकी आमदनीके सुप्रबन्धके लिये एक कमेटी बनानेका बिल स्वीकृत हुआ है। अयोध्याके महन्तों तथा मथुरा, नाथद्वारा और गोवर्धनके गुसाइयोंकी धन-दौलत विशाल खजानोंमें भर कर रखी जाती है और उस पर बंदूकका पहिरा बिठाया जाता है। कुम्भके मेलों पर इन धर्मजीवी लोगोंकी जो सवारियां निकलती हैं, उनमें हाथी-घोड़ोंकी साज-सजावट, सोने-चांदीके हौदे-काठियां, रेशम-जरी-मखमलके वेश-भूषा और लाखोंकी कीमतके जड़ाऊ आभूषण देखकर दांतों तले अंगुली दबा लेनी पड़ती है। संसारकी सुख-सामग्रीकी कोई ऐसी चीज नहीं, जो इनके पास नहीं है और इस सबका संग्रह धर्मके नाम पर ही किया गया है। सोने-चांदीके बर्तनोंमें बढ़ियासे बढ़िया और कीमतीसे कीमती भोजन ये खाते हैं। बाग-बगीचोंसे हर प्रकारकी सजी हुई कोठियोंमें मखमली गद्दे-तकियों पर ये समाधि लगाते हैं। सुगंधित तेल, इत्र, पान, तमाखू, भांग, शराब आदि सबका

ये सेवन करते हैं। इतने ही पर बस नहीं, कस्तूरी, केसर, सोनेके वर्क, मोतीकी भस्मोंका भी इनको भोग चाहिये। अपने शिष्योंकी नववधुओंके साथकी जाने वाली गुसाइयोंकी पाशविक-लीलाका उल्लेख यहां क्या किया जाय ? धर्मके नाम पर धर्मगुरुके नाते नव-विवाहिता कन्याका चरित्र ही नहीं बिगाड़ा जाता, किन्तु साथमें हजारों रुपयोंकी भेंट भी ली जाती है। मानो, भोजनके बादकी दक्षिणाके समान यह भेंट भी इस कुकर्मकी दक्षिणा है, जिसके बिना यह धर्माचार पूरा नहीं हो सकता। वह भी समय था जब कि इन धर्मगुरुओंके एक चुम्मन तकके लिये यह सब कारबार होता था। इस पापलीलाके सामने टर्कोंके सुलतानके हरम भी क्या थे ? यह मानना होगा कि धर्मकी इस विडम्बना, आडम्बर एवं पाखण्डसे तो प्रलयकालीन अवस्था कहीं अधिक अच्छी है और जंगलोंमें नंगे रहने वाले असभ्य एवं अशिक्षित कहे जाने वाले ऐसे धर्मको मानने वालोंसे कहीं अधिक अच्छे हैं, जो कि धर्मके नाम पर पाप और ठगविद्या तो नहीं फैलाते। धर्म व्यक्तिगत जीवनकी केवल उस उन्नतिका साधनमात्र रह सकता है, जो उन्नति राष्ट्रकी उन्नतिमें बाधक नहीं। राष्ट्रकी उन्नतिमें बाधक व्यक्तिगत साधना (?) कितनी भी ऊंची और महान् क्यों न हो, उसको राष्ट्र-धर्मकी दृष्टिसे सहन नहीं किया जा सकता। सब शक्ति लगाकर उसका विरोध तो करना ही होगा।

धर्मनाशके सम्बन्धमें किये जाने वाले आक्षेपों पर विचार करते हुये नास्तिकता एवं व्यभिचारके पैदा होनेके सम्बन्धमें

समस्त व्रत, उपवास किंवा तीर्थयात्रा और जप, पूजा किंवा तपस्या सब व्यर्थ है। शास्त्राचार और लोकाचार भी सब निरर्थक है। मन्दिर, मसजिद सरीखे ऐसे सब धर्मस्थान तुच्छ हैं जहां कि इस पुरुषार्थके लिये क्रियात्मक उद्योग नहीं किया जाता। जिस धर्मका हम सर्वनाश करना चाहते हैं, वह राष्ट्र-धर्मसे अन्धकारसे प्रकाशके समान बिलकुल विपरीत है। राष्ट्र-धर्ममें दीक्षित राष्ट्रोंको आदर्श मान कर हम लोग बहुत कुछ सीख सकते हैं। हम चारों ओरसे ही धार्मिक-अन्धविश्वास एवं उसपर आश्रित सामाजिक-परम्पराके जालमें उलझे हुये हैं। हमारा धर्म, हमारा समाज-शास्त्र, हमारी जातीय-मर्यादा, हमारी कुल-परम्परा और हमारा व्यक्तिगत-जीवन धर्मान्धताके कारण इतना गंदा हो चुका है कि उस सबका राष्ट्र-धर्मकी दृष्टिसे अथसे इतितक संशोधन करनेके लिये ही उस सबको नये ढांचेमें ढालना जरूरी है।

दूसरे देशोंके इतिहासका पिछले पृष्ठोंमें जो उल्लेख किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि वर्तमान युग राष्ट्र-धर्मका युग है। भारतमें इस युगका प्रादुर्भाव हो चुका है। गुरु गोविन्द सिंह, महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजीने निश्चय ही देशमें राष्ट्रीयता किंवा राष्ट्र-धर्मका सूत्रपात किया था। मराठोंका उत्कर्ष एवं सिखोंका परिवर्तन राष्ट्रीय भावनाके रंगमें रंगा हुआ था। पर, उस समयके इतिहास लेखकोंको धार्मिक-वृत्ति उस राष्ट्रीयताको हजम कर गई। सिखों और मराठोंके समान कई बार राष्ट्रीयताके आधार पर भिन्न भिन्न संगठन देशमें

बनाये गये, पर वे सब साम्प्रदायिकताको लहरमें ऐसे बह गये कि उनको राष्ट्रीयता बिलकुल नष्ट हो गई और राष्ट्राय दृष्टिसे उनका पूरी तरह नैतिक-पतन हो गया। भिन्न भिन्न समयकी आवश्यकताओंके अनुसार खान-पान एवं रहन-सहन आदिके लिये की गई मर्यादाका पतन होकर छूत-छात एवं स्पर्शास्पर्श ही धर्मका प्रधान अंग रह गया। सिखों, मराठों एवं आर्य-समाजका नैतिक-पतन उक्त कथनका समर्थक है। फिर भी निराशाका कोई कारण नहीं। राष्ट्रीयताकी वेगवती लहर इस सब विघ्न-बाधाओंके रहते हुये भी विशाल रूप धारण कर रही है। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक सरीखे महापुरुषोंकी राष्ट्रधर्मके लिये की गई साधना एवं बलिदान व्यर्थ कैसे जा सकता है ? आर्य-समाज कितना भी साम्प्रदायिक क्यों न बन गया हो, किन्तु स्वामी दयानन्द द्वारा बखेरे गये राष्ट्र-धर्मके बीज फूटे बिना कैसे रह सकते थे ? लोकमान्य तिलककी 'राष्ट्रदेवो भव' की दी हुई दीक्षा फल लाये बिना कैसे रह सकती थी ? इस समय महात्मा गान्धीको तो राष्ट्रधर्मकी दृष्टिसे अवतार ही कहना चाहिये।

महात्मा गान्धीने एक सन्त और त्यागीके वेशमें जब देशके राजनीतिक क्षेत्रमें प्रवेश किया था और अपने कार्यक्रममें खादी, अछूतोद्धार, मदिरा-त्याग, सत्य एवं अहिंसा आदिको प्रधानता दी थी, तब पुराने रंग-ढंगके राजनीतिक लोग एक बार ही विस्मय में पड़ गये थे। राष्ट्रीय-भाषा हिन्दीको अपनाने, बाल-विवाहको

बन्द करने, विधवा-विवाह को प्रचलित करने एवं अस्पृश्यताके पापको मिटा कर हिन्दूमात्रके लिये मन्दिरोंके द्वार खोलने सरीखी उनकी बातोंको सुनकर ऐसे लोग एकदम हो चकरा गये थे। १९३० में अपनी गिरफ्तारीसे कुछ ही दिन पहिले जब उन्होंने भारतकी नारियोंसे पिकेटिंगके कामको अपने हाथमें लेनेकी अपील की थी, तब कौन जानता था कि परदेकी कैदमें बन्द रहने वाली और घरसे बाहिरकी दुनियासे सर्वथा अनभिज्ञ देवियां चण्डी और दुर्गाका रूप धारण करके हजारोंकी संख्यामें जेलकी यातना सहन करनेको उठ खड़ी होंगी। उनके लिये यह समझना कठिन था कि देशकी राजनीति या राष्ट्रीयताके साथ उनका क्या सम्बन्ध है? आज उनका महत्व उस समयके बड़े बड़े राजनीति-धुरन्धर भी स्वीकार कर रहे हैं। राष्ट्र-धर्म देश, जाति अथवा राष्ट्रके समस्त जीवनसे ही सम्बन्ध रखता है। राष्ट्र-धर्मका सूर्य उदय होनेपर उसकी किरणोंका प्रकाश चारों ओर एक समान पहुंचता है। टर्की और रूस आदि देशोंमें जब राष्ट्र-धर्मका सूर्य उदय हुआ तब वहांके गृहस्थ किंवा अन्तःपुर तक उससे नहीं बच सके, स्त्रियों एवं पुरुषोंका पहिरावा तक एकदम बदल गया, विवाहकी प्रथा तक बदल गई, खेलके मैदानों तकमें उसका प्रकाश जा पहुंचा, स्कूलों, गिरजाघरों एवं मसजिदों तककी काया पलटनेमें कुछ समय नहीं लगा और तो और गांवों एवं नगरों तककी व्यवस्थामें परिवर्तन हो गया। उन देशोंके व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवनकी ऐसी कोई दिशा

बाकी नहीं रही, जिसमें उस सूर्यकी किरणोंका प्रकाश नहीं पहुंचा। इसीका नाम है बहुंमुखी-क्रान्ति। भारतमें इस समय इस क्रान्तिका चक्र पूरे वेगके साथ घूम रहा है। देशवासियोंके समस्त जीवन पर उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। यह विश्वास रखना चाहिये कि यह क्रान्ति शीघ्र ही अपना कार्य पूरा कर डालेगी। भारत भी राष्ट्र-धर्मकी दीक्षामें पूरी तरह दीक्षित हो जायगा। उसके व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवनकी गंदगी सहजमें धुल जायगी। साधु-सन्तोंका युग टर्कोंके मुल्ला-मौलवियों तथा फकीरों और रूसके पादरियोंके समान भूतमें विलीन हो जायगा। भारतके धर्माधिकारी भी रोमके पोपके समान सत्व-हीन रह जायेंगे। धर्म व्यक्तिके खान-पान एवं वेश-भूषाके समान केवल व्यक्तिगत इच्छा और आवश्यकताका विषय रह जायगा। धर्मके नाम पर होने वाली विडम्बना और आडम्बर सब मिट जायगा। धर्मकी आड़में फैली हुई ठगविद्याका प्रपंच उठ जायगा। धर्मान्धता, मजहबी-पागलपन और साम्प्रदायिक-कट्टरता सब नष्ट हो जायगी। धर्म एवं जातिके नाम पर पैदा किया गया ऊंच-नीच का अभिमान जाता रहेगा। खान-पान, छूत-छात एवं स्पर्शास्पर्श की भेद-भावकी दीवारें मिट्टीमें मिल जायेंगी। वह सब अनुष्ठान तथा पूजा-पाठ उठ जायगा, जो कि इस समय कुछ लोगोंकी आ-जीविकाका प्रधान साधन बना हुआ है और जिसके द्वारा मुट्ठीभर लोग समस्त जनता को अपने हाथकी कठपुतली बनाकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। स्त्रियोंपर होनेवाली पुरुषोंकी मनमानीका

अन्त हो जायगा। देशवासी पराश्रित न रहकर स्वावलम्बनका पाठ पढ़ेंगे। सारांश यह है कि तब इस देशमें भी निकम्मे धर्मका सर्वनाश होकर सर्व-शक्ति-सम्पन्न उस राष्ट्र-धर्मकी स्थापना होगी जिसकी निरन्तर आराधनामें तत्पर दूसरे देश, समाज किंवा राष्ट्र उन्नतिके मार्ग पर बड़ी तेजीके साथ अग्रसर हो रहे हैं और तब यह देश भी उन्नति और प्रगतिके मार्ग पर आरूढ़ होकर दूसरे देशोंके साथ होड़ लगानेमें समर्थ हो सकेगा। निश्चय ही भारत-माता की वह सन्तान अधम हैं जो उसको इस प्रकार सामर्थ्यवान् बना हुआ नहीं देखना चाहती। क्या कोई राष्ट्र-धर्मका विरोध कर अपनेको भारतमाताकी अधम सन्तान कहलाना चाहेगा? यदि नहीं तो आओ सब मिलकर राष्ट्र-धर्मकी स्थापनामें कटि-बद्ध हो जांय और भगवान तिलकके 'राष्ट्रदेवो भव' आदेशको पूरा करनेके लिये अर्जुनके शब्दोंमें एक-स्वरमें कहें कि:—

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥"

अर्थात् "आपकी कृपासे मेरी मोह-माया और भ्रम-जालके सब बंधन टूट गये। अपने कर्तव्यका मुझको पूरा ज्ञान हो गया। मैं आपके बचनका पूरी तरह पालन करूंगा।"

भारतके इतिहासमें वह दिन सुवर्णाक्षरोंमें लिखा जायगा, जिस दिन राष्ट्र-धर्मकी दृष्टिसे इस कर्तव्यका ज्ञान करके हम उसको पालन करनेमें तल्लीन हो जायेंगे।